अन्तर्बहिर्वा यत् किञ्चिद्भारूपोदरसंस्थितम् ।
अतस्तन्नापादानं स्यात् शृङ्गस्येव हि पर्वतः ॥ ४२ ॥
एवंविधं हि भारूपं ग्रस्तसर्वप्रपञ्चकम् ।
भाति स्वतन्त्रतः स्वस्मिन् सर्वत्राऽपि च सर्वदा ॥ ४३ ॥
एतत् परा चितिः प्रोक्ता त्रिपुरा परमेश्वरी ।
ब्रह्मेत्याहुर्वेदविदो विष्णुं वैष्णवसत्तमाः ॥ ४४ ॥
शिवं शैवोत्तमाः प्राहुः शक्तिं शक्तिपरायणाः ।
एतद्रूपादृते किञ्चिद् यदि ब्रूयुस्तदल्पकम् ॥ ४५ ॥
तया व्याप्तं तु चिच्छक्त्या दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
तस्य भास्यकृतं भासकत्वं च न स्वतः स्थितम् ॥ ४६ ॥
भास्यं तु भाननिर्मग्नमादर्शे नगरादिवत् ।
दर्पणे नगरं यद्वद्दर्पणान्नातिरिच्यते ॥ ४७ ॥
तथा चिति जगद्भाति यत्तन्नैवातिरिच्यते ।

भीतर-बाहर जो कुछ है वह सब उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा के पेट में ही है । इसीलिए जैसे एक पहाड़ अपनी चोटी से अलग नहीं हो सकता, उसी तरह यह संसार उस परमात्मा से अलग नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

विशेष—शरीर के अतिरिक्त और शरीर को अतिक्रमण करता हुआ अपने भीतर जो किसी भी सत्य का अनुभव नहीं कर पाते हैं, उनके जीवन पशु-जीवन से ऊपर नहीं उठ सकते । देह की मिट्टी के घेरे से ऊपर उठती हुई जीवन-ज्योति जब अनुभव में आती है तभी ऊर्ध्वगमन प्रारम्भ होता है । उसके पूर्व जो प्रकृति प्रतीत होती थी, वही उसके बाद परमात्मा में परिणत हो जाती है । कहने का तात्पर्य यह कि जैसे शिखर को पहाड़ से अलग या बाहर नहीं कहा जा सकता, उसी तरह जगत् के जंजाल को प्रकाशस्वरूप चैतन्य से भिन्न या अलग नहीं कहा जा सकता है ।

इस तरह प्रकाशस्वरूप चैतन्य ने दुनिया के सारे जंजाल को अपने में निगल रखा है । यह हमेशा हर जगह पूरी आजादी के साथ अपने-आप में खुद प्रकाशित है ॥४३॥

यह पराचिति ही भगवती त्रिपुरा कही जाती है । वैदिक विद्वान् इसे ही ब्रह्म कहते हैं और वैष्णव विष्णु ॥ ४४ ॥

शैवधर्मावलम्बी इसे ही शिव कहते हैं और शाक्तजन शक्ति । इस चिति रूप से अलग जो कुछ कहा जायगा, वह अपूर्ण ही होगा ॥ ४५ ॥

परछाईं जैसे आईने में परिपूरित है, उसी तरह यह सब उस चेतन शक्ति में परिपूरित है । इसकी चमक उसी के तेज के कारण है न कि अपने-आप ॥ ४६ ॥

आईने में दीखने वाले नगर जैसे आईने से अलग नहीं होते; उसी तरह सारा दृश्य अपने भासक से भिन्न नहीं हैं । आईने का नगर जैसे आईने से भिन्न नहीं होता, उसी तरह चिति से प्रकाशित दुनिया चिति से अलग नहीं होती ॥ ४७½ ॥

दर्पणात्मनि सम्पूर्णे निबिडे चैकरूपिणि ॥ ४८ ॥
यथा हि भिन्नं नगरं सर्वथा नोपपद्यते ।
तथा पूर्णेऽस्तु निबिडे चैकरूपे चिदात्मनि ॥ ४९ ॥
जगत् सर्वात्मना नैव ह्युपपत्तिं समश्नुते ।
आकाशस्त्ववकाशात्मा शून्यरूपत्वहेतुतः ॥ ५० ॥
द्वैतं जगत् प्रसहते सर्वत्रैव हि सर्वदा ।
सती चितिरशून्यात्मरूपिण्येकरसा कथम् ॥ ५१ ॥
द्वितीयलेशं प्रसहेदादर्शात्मवदञ्जसा ।
तस्मादादर्शवत् संवित् स्वातन्त्र्यभरवैभवात् ॥ ५२ ॥
भासयेदद्वितीये स्वे रूपे सर्वं चराचरम् ।
निमित्तोपादानहीनं द्वितीयमतिचित्रितम् ॥ ५३ ॥
यथाऽनेकरूपविधे भासमानेऽपि दर्पणे ।
एकत्वं भासते स्पष्टमविशेषाददूषितम् ॥ ५४ ॥
तथा विचित्रे जगति भासमानेऽप्यनेकधा ।
अनुसन्धानसंसिद्धमेकं दोषविवर्जितम् ॥ ५५ ॥
राजन् स्वात्मनि सम्पश्य मनोराज्यदशास्थितिम् ।
अनेकवैचित्र्यवपुरपि चैतन्यमात्रकम् ॥ ५६ ॥

जैसे समान रंग-ढंग का सघन एवं पूरे आईने से अलग उसमें प्रतिबिम्बित नगर का अस्तित्व किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है; उसी प्रकार समान, सघन एवम् सम्पूर्ण चिदात्मा में संसार की अलग सत्ता किसी भी तरह नहीं हो सकती ॥४८–४९½॥

आकाश तो रिक्त एवम् निराकार है। अतः उसमें हमेशा हर जगह द्वैत अर्थात् दोनों ही रूप संसार का आसानी से समा सकता है ॥ ५०½ ॥

किन्तु सत्स्वरूपा चिति, जो अशून्यात्मा, एकरूपिणी और एकरसा है, स्वभाव से ही आईने की तरह किसी प्रकार लेश मात्र द्वैत को भी सहन कर सकती है ॥५१½॥

वह चित् शक्ति अपने बेनियाज और बेहद ताकत के बल से आईने की तरह अपने ही बेजोड़ रूप में इस सारे जड़-चेतन संसार के द्वैत को, जिसका कोई हेतु या ऐसा कारण जो स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाय, नहीं है और जो परस्पर अत्यधिक विलक्षण है, प्रकाशित हो रही है ॥ ५२–५३ ॥

जैसे परछाई के कारण अनेक रूप दीखने वाले आईने की तरह अपने-आप में सामान्य रूप से बेरोक उसका एक रूप साफ झलकता है, उसी तरह जाग्रत् अवस्था के कारण यह विचित्र संसार अनेक रूपों में दीखने के बावजूद इसमें किसी तरह भी बाधित न होने वाला एक तत्त्व तो सिद्ध है ही, क्योंकि इसकी विभिन्न अवस्थाओं का एक ही के द्वारा स्मरण होता है ॥ ५४–५५ ॥

सृष्टौ वा प्रलये वाऽपि निर्विकल्पैव सा चितिः ।
प्रतिबिम्बस्य भावे वाऽप्यभावे वेव दर्पणः ॥ ५७ ॥
एवंविधैकरूपाऽपि चितिः स्वातन्त्र्यहेतुतः ।
स्वान्तर्विभासयेद्वाह्यमादर्शे गगनं यथा ॥ ५८ ॥
एषा हि प्रथमा सृष्टिरविद्या तम उच्यते ।
पूर्णस्यांशेनेव भानं बाह्याभासनमुच्यते ॥ ५९ ॥
पूर्णाहम्भावविच्छेदादनहम्भावरूपता ।
एषैवाऽव्यक्तमित्युक्ता जडशक्तिश्च कथ्यते ॥ ६० ॥

राजन् ! तुम अपने में ही अपने मनोराज्य की स्थिति पर विचार करो। वह अनेक रूपों में होने पर भी चैतन्य मात्र एक ही तो है ॥ ५६ ॥

यह चिति सृष्टि हो या विनष्टि हर हालत में निर्विकल्पा ही रहती है। जैसे परछाई हो या न हो, आईना तो आईना ही रहता है ॥ ५७ ॥

इस तरह यह चिति एकरूपा होने के बावजूद अपनी बेतियाजी की वजह से आईने में आकाश की तरह अपने भीतरी रूप को ही बाहर झलकाती रहती है ॥५८॥

संसार की यह पहली उत्पत्ति ही अविद्या (मिथ्याज्ञान) और तम (अज्ञान) कही जाती है। उस पूर्णतत्त्व का एक छोटे हिस्से की तरह बोध होना ही बाहरी बोध समझा जाता है ॥ ५९ ॥

परिपूर्ण आत्मतत्त्व में अहंभाव न रहने पर जो अनहंभावरूपता आती है वही अव्यक्त कही जाती है और उसी को जड़शक्ति कहते हैं ॥ ६० ॥

विशेष –इस श्लोक में 'अहम्' के माध्यम से 'आत्मतत्त्व' का एक विलक्षण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार चित्त और चित्तवृत्तियों के समग्र संस्थान का केन्द्र अहंकार है। उसके विलीन होने से वह भी विसर्जित हो जाता है। तब जो शेष रहता है और जिसकी अनुभूति होती है, वही आत्मा है।

कहने का तात्पर्य आत्म अज्ञान का केन्द्रीय लक्षण अहम् है। 'मैं' सब कुछ हूँ और शेष जगत् मेरे लिए हैं। 'मैं' अनन्त सत्ता का केन्द्र और लक्ष्य हूँ – इस अहंभाव से पैदा हुआ शोषण ही अनर्थकारी है। आत्मज्ञान का केन्द्रीय लक्ष्य सबके प्रति समान भाव ही तो है।

जहाँ अहम् शून्य होता है, वहीं प्रेम पूर्ण होता है। जगत् में दो ही प्रकार की चेतन-स्थितियाँ हैं – अहम् की और प्रेम की। अहम् संकीर्ण और अणु स्थिति है, प्रेम विराट् और ब्रह्म। अहम् का केन्द्र 'मैं' है, प्रेम अर्थात् सबके प्रति समान भाव का कोई केन्द्र नहीं है या 'सब' उसके केन्द्र है। अहम् केवल अपने लिए जीता है, प्रेम सबके लिए जीता है। अहं शोषण है और प्रेम सेवा है। सबके प्रति समान भाव आत्मिक उत्कर्ष और जीवन की उपलब्धि का श्रेष्ठतम फल है। जो उसे पाये बिना समाप्त हो जाते हैं वे जीवन को बिना जाने ही समाप्त हो जाते हैं।

या चितिश्चाऽत्र विच्छिन्नाभासिनी बहिरात्मनः ।
शिवतत्त्वमिति प्रोक्ता शक्तिस्तद्भासनं भवेत् ॥ ६१ ॥
बहीरूपं महाशून्यं कल्पितं यत्तदेव तु ।
अहम्भावाऽऽच्छादनेन सदाशिवमयं स्मृतम् ॥ ६२ ॥
तदेव जाड्यमुख्यत्वे ईश्वराख्यं प्रचक्षते ।
अनयोः संवेदनं तु भेदाऽभेदविमर्शनम् ॥ ६३ ॥
शुद्धविद्येति सम्प्रोक्तमेतावच्छुद्धमुच्यते ।
भेदशक्तेरप्रकृष्टा साऽभेदात्माऽवभासनात् ॥ ६४ ॥

क्योंकि आत्मतत्त्व तथाकथित जीवन की विरुद्ध दिशा में है। यही कारण है कि अहम् के अर्थ में सामान्य जन आत्मा को समझते हैं। प्रलयकाल में यह आत्मा निर्विकल्प स्थिति में चिति रूप में ही रहती है। अपनी बेनियाज ताकत के बल से जब उसकी इच्छा सविकल्प होती है तब उसका अहंभाव मिट जाता है। फिर उसमें सबके प्रति समभाव जग जाता है। इसी को वेदान्त-दर्शन में मायाशक्ति कहा गया है। फिर जब यह विकल्प की स्थिति में आती है तब इसमें सीमित एवं व्यक्तिनिष्ठ 'अहम्' की स्फूर्त्ति होती है। इसी स्थिति को अविद्या या जड़शक्ति कहते हैं। इस तरह परमात्मा की चित् शक्ति या उनके विग्रहस्वरूप उनकी स्वतंत्रता ऊपर वर्णित तीन अवस्थाओं को प्राप्त करती हैं। नीचे के तीन श्लोकों में इन्हीं तीन अवस्थाओं का वर्णन है।

जो चिति इस दुनिया में विभक्त होकर अपने को बाहरी भाव से प्रकट करती है, उसे शिवतत्त्व कहा जाता है। बाहर उसका जो रूप दिखलायी पड़ता है, वही उसकी शक्ति है ॥ ६१ ॥

विशेष – पूर्ण चैतन्य अर्थात् परमात्मा, जो सभी प्रकार की संवेदनाओं का स्रोत और सब प्राणियों का मूल स्रोत समझा जाता है, उसमें कोई बाहरी झलक नहीं होती। इस अवस्था में उसे परम शिव कहा जाता है। फिर दुनिया की उत्पत्ति काल में अनेक सीमाओं में जो एक सामान्य निर्विकल्प चेतन अनुगत रहता है, उसका नाम 'शिवतत्त्व' है और उस निर्विकल्प चेतन का कटा हुआ अंश अहं रूप से 'झलकना' शक्ति है। इस तरह जो सृष्टि से पहले परम शिव कहा जाता है, वही सृष्टि काल में सामान्य चिति रूप से 'शिवतत्त्व' तथा अहम् रूप से 'शक्तितत्त्व' या जीव है।

जो महाशून्य बाहरी रूप से कल्पित हुआ है, वही जब 'यह मैं हूँ' इस तरह 'अहम् भाव' से ढकता है तो उसे ही 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ६२ ॥

वही जड़ता की प्रमुखता होने पर 'ईश्वर' नाम का चौथा तत्त्व कहलाता है। इस सदाशिव और ईश्वर तत्त्व का 'यह मैं हूँ' और 'मैं यह हूँ' इस तरह भेद और अभेद रूप से झलकना ही 'शुद्ध विद्या' नामक पाँचवा तत्त्व कहा जाता है। शिव-तत्त्व से लेकर यहाँ तक ये पाँचों तत्त्व जड़ता का विकास न होने से तथा अभेद-स्वरूप आत्मतत्त्व की ही झलक होने के कारण शुद्ध कहे जाते हैं ॥ ६३–६४ ॥

अथ चित्स्वातन्त्र्यभरात् प्ररूढे भेदभावने ।
जडशक्तिर्धर्मिभावं चितिर्धर्मात्मतां ययौ ॥ ६५ ॥
तदा सा जडशक्तिस्तु मायातत्त्वं प्रचक्षते ।
माया विभेदबुद्धिस्तु भेदप्रचुरभावनात् ॥ ६६ ॥
भेदप्रचुरसंवीता चितिः सङ्कुचितात्मिका ।
पञ्चकञ्चुकसंव्याप्ता पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥ ६७ ॥
कलाविद्यारागकालनियतिः पञ्चकञ्चुकम् ।
कला किञ्चित्कर्त्तृता स्याद्विद्या किञ्चिज्ज्ञता भवेत् ॥ ६८ ॥
रागस्तृष्णा परिच्छित्तिरायुषा काल उच्यते ।
नियतिः परतन्त्रत्वमेतैर्युक्तस्तु पूरुषः ॥ ६९ ॥
चितिशक्तिमधिष्ठाय विचित्राज्ज्ञादिकर्मणाम् ।
जनानां वासनापिण्डः स्थितः प्रकृतिरुच्यते ॥ ७० ॥
फलं तु त्रिविधं यस्मात् कर्मणां सा त्रिरूपिणी ।
अस्या अवस्थाभेदो हि चित्तमित्यभिधीयते ॥ ७१ ॥

विशेष—'मैं कौन हूँ' यह जान लेना ही सत्य को जान लेना है। इस बोध के साथ ही मनुष्य का दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख आत्म-अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं अपने को जानते ही आनन्द का अधिकारी हो जाता हूँ। वह जो सबके भीतर है—वही पराशक्ति है, वही ईश्वर है। उसी की अनुभूति आनन्द है। 'मैं वह हूँ' इसमें 'मैं' चिति का रूप है और 'यह' महाशून्य जड़तत्त्व है। जब मैं की प्रधानता होती है तब 'सदाशिव' और जब 'यह' की प्रधानता होती है तब 'ईश्वर-तत्त्व' होता है। 'मैं' और 'यह' में तत्त्व की दृष्टि से अभेद सम्बन्ध है और उल्लेख की दृष्टि से भेद है। इस तरह इसका बोध भेदाभेद रूप से होता है।

फिर जब उस पराशक्ति की बेनियाज ताकत के प्रभाव से भेदभाव बढ़ने लगता है, तो जड़शक्ति धर्मी बन जाती है और चिति उसका धर्म बन जाती है ॥ ६५ ॥

तब वह जड़शक्ति ही मायातत्त्व कहलाती है। माया भेदबुद्धि का नाम है, क्योंकि माया में भेद-प्रधान भावना रहती है ॥ ६६ ॥

भेदभाव की अधिकता से भरी चिति सिकुड़ जाती है तथा ऐसे पाँच ढक्कनों से ढककर वह पुरुषत्व को प्राप्त करती है ॥ ६७ ॥

ये पाँच आवरण हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। कुछ कर सकना कला है, कुछ जान सकना विद्या है, राग सांसारिक सुखों की चाह है, आयु की सीमा काल है और पराधीनता नियति है। इन पाँच केंचुलों से जो ढका है, वही पुरुष है ॥ ६८–६९ ॥

भले-बुरे अनेक तरह के सब दिन से चल रहे कामों की कामना का जो समूह चितिशक्ति को आधार मानकर मौजूद है, वही तो प्रकृति है ॥ ७० ॥

सुषुप्तौ प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्ते चित्तमुच्यते ।
वासनापिण्डसहिता चितिश्चित्तमुदीरितम् ॥ ७२ ॥
अव्यक्तमेतदेवोक्तं वासनापिण्डभावतः ।
पुरुषाणां विभेदेन चित्तं बहुविधं भवेत् ॥ ७३ ॥
जीवानामविभेदेन सुषुप्तावेकधा हि तत् ।
प्रकृतित्वं समायाति तदन्ते चित्ततामियात् ॥ ७४ ॥
एतदेव पुमान् प्रोक्तश्चितिप्राधान्यहेतुना ।
अव्यक्तप्राधान्यतस्तु चित्तप्रकृतितामियात् ॥ ७५ ॥
क्रियाभेदात् तत्त्रिविधमन्तःकरणमुच्यते ।
अहङ्कारबुद्धिमनोरूपेण नृपसत्तम ! ॥ ७६ ॥
ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां तु पञ्चकं स्यात्ततः पृथक् ।
शब्दादिगगनादीनि भूतानि स्थूलसूक्ष्मतः ॥ ७७ ॥
एवं सा परमा संविद् बाह्याभासप्रपूर्वकम् ।
क्रीडां करोति सृष्ट्यादिक्रमेण सर्वसाक्षिणी ॥ ७८ ॥

मनुष्य जो कुछ करता है उसका परिणाम तीन तरह का होता है — सुख, दुःख और मोह । अतः यह प्रकृति भी सत्त्व, रज और तमो गुणवाली तीन तरह की होती है । इसी का एक अवस्था भेद चित्त कहलाता है ॥ ७१ ॥

गहरी नींद में यह 'प्रकृति' है और जगने पर चित्त । वासनाओं के साथ जो चिति है वही 'चित्त' कहलाती है ॥ ७२ ॥

वासना-समूह से घिरे रहने के कारण यह चित्त ही 'अव्यक्त' भी कहलाता है । पुरुष भेद के कारण ही इस चित्त के भी अनेक भेद हैं ॥ ७३ ॥

किन्तु गाढ़ी नींद में पुरुषों का भेद नहीं रहता । इसलिए उस समय वह एक ही प्रकार का होता है । उस स्थिति में वह प्रकृतिभाव में चला जाता है । उसका अन्त होने पर ही वह चित्त रूप में आ जाता है ॥ ७४ ॥

चिति की प्रमुखता के कारण यह चित्त ही पुरुष कहलाता है और अव्यक्त की प्रमुखता की वजह से यही चित्त प्रकृति के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ७५ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! क्रियाभेद से यही चित्त अहङ्कार, बुद्धि और मन — इन तीन रूपों में 'मन' कहलाता है ॥ ७६ ॥

इस त्रिगुणात्मक अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा शब्दादि सूक्ष्म एवं आकाशादि स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं ॥ ७७ ॥

विशेष — १. ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच — कान, नाक, आँख, जीभ और त्वचा ।

२. कर्मेन्द्रियाँ पाँच — हाथ, पैर, वाणी, गुदा तथा मूत्रद्वार ।

३. सूक्ष्मभूत पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ।

४. पाँच स्थूलभूत तन्मात्राएँ—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ।

तत्राऽऽद्यया श्रीत्रिपुराशक्त्या सृष्टौ प्रभावतः ।
हिरण्यगर्भो यो ब्रह्मा तस्यैतद्भावनोत्थितम् ॥ ७९ ॥
जगत् तत्र तु या संवित्त्वमहंरूपभासिनी ।
सा परैव हि चिच्छक्तिस्तद्भेदो न तु विद्यते ॥ ८० ॥
भेदस्त्वौपाधिको भाति ह्युपाधिर्ब्रह्मभावितः ।
तद्भावनोपसंहारे नास्ति भेदस्य भासनम् ॥ ८१ ॥
चितो या भावना शक्तिर्मायया ते समावृता ।
तदावरणहाने तु तव सा सिद्धिमेष्यति ॥ ८२ ॥
देशः कालोऽथवा किञ्चिद् यथा येन विभावितम् ।
तथा तत्तत्र भासेत दीर्घसूक्ष्मत्वभेदतः ॥ ८३ ॥
मयैकदिनरूपेण भावितं तद्दिनैककम् ।
ब्रह्मणा तावदेवाऽत्र द्वादशाऽर्बुदरूपतः ॥ ८४ ॥
भावितं तेनैवमेतच्चिरशीघ्रत्वभासनम् ।
ब्रह्मणा निर्मिते शैले पादगव्यूतिसम्मिते ॥ ८५ ॥
मयाऽनन्तप्रदेशस्य भावितत्वादनन्तता ।
एवं च द्वयमप्यत्र सत्यं चाऽसत्यमेव च ॥ ८६ ॥

इस तरह सब काम के चश्मदीद गवाह वह परमा चिति बाहरी छाया के साथ सृष्टि, स्थिति और विनष्टि क्रम से खेलती रहती है ॥ ७८ ॥

इस उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि में सबकी उत्पत्ति का हेतु यही त्रिपुराशक्ति है। उसी की भावना से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मा के ही संकल्पशक्ति से इस दुनिया की पैदाइश हुई है। इसमें जो 'मैं' और 'तुम' रूप से देखनेवाली चेतना है, वह 'परा' ही चित् शक्ति है। इसमें कोई भीतरी छिपाव नहीं है ॥ ७९–८० ॥

फर्क पहचान की वजह से दीख पड़ता है और यह पहचान ब्रह्मा की भावना से हुई है। अतः उसकी भावना का अन्त होने पर इस फर्क का भी बोध नहीं होता ॥ ८१ ॥

तुममें जो चैतन्य की भावना है, वह माया से ढकी है। इस आवरण के हटते ही वह तुम्हारे लिए प्रकट हो जायेगी ॥ ८२ ॥

स्थान, समय या कोई दूसरी चीज हो, उसके बारे में जिसकी जैसी भावना है उसी के अनुसार वह उसे कम या ज्यादे दीख पड़ता है ॥ ८३ ॥

अपनी दुनिया में मैंने केवल एक दिन की भावना की थी। अतः वहाँ एक दिन हुआ। किन्तु उतने समय की ब्रह्मा ने बारह अरब साल की भावना की। इसी से यह एक ही काल में इतने लम्बे अरसे और इतनी छोटी अवधि का फर्क महसूस हुआ ॥ ८४½ ॥

विधि-निर्मित आधे मील के इस पहाड़ में मैंने असीम देश की भावना की, इसलिए

त्वमप्यन्तःक्रोशमितं देशं कालं कलात्मकम् ।
विभाव्य भूयस्तत्रैव भावयाऽनन्तयोजनम् ॥ ८७ ॥
असङ्ख्यकालमपि च भासेद् यावद्धि भावनम् ।
तस्माद्भावनमात्रात्मरूपमेतज्जगद्बहिः ॥ ८८ ॥
चिदात्मरूपे व्यक्ते वै भासते मनुजाऽधिप ।
तस्माद् बाह्यात्मकाऽव्यक्तभित्तौ चित्रमयं जगत् ॥ ८९ ॥
अव्यक्तभित्तिमात्रं स्याद् सा स्वभित्तिश्चिदात्मिका ।
अत एव चिराद् गम्यो दूरदेशोऽपि योगिनः ॥ ९० ॥
क्षणेन गत्वा पश्यन्ति करामलकवद् ध्रुवम् ।
तस्माद् दूरं समीपं वा चिरं शीघ्रमथाऽपि वा ॥ ९१ ॥
भावनामात्रसंसिद्धं चिद्दर्पणसमाश्रितम् ।
निश्चित्यैवं त्यज भ्रान्तिं शुद्धचिद्भावनक्रमात् ॥ ९२ ॥
ततस्त्वमप्यहमिव स्वतन्त्रस्तु भविष्यसि ।
इति श्रुत्वा मुनिसुतवचनं मुनिसत्तमः ॥ ९३ ॥
परित्यज्याऽखिलभ्रान्तिं ज्ञातज्ञेयः शुभाशयः ।
समाध्यभ्यासयोगेन संसाध्य निजभावनाम् ॥ ९४ ॥

इसमें निःसीमिता दीख पड़ी । अतः यह अनुभूति दो तरह की है—व्यावहारिक दृष्टि से सच तथा पारमार्थिक दृष्टि से झूठ भी ॥ ८५–८६ ॥

तुम भी यदि अपनी संकल्पभूमि में पहले दो मील लम्बे और मात्र एक पल समय की कल्पना करके फिर उसमें बेहद लम्बी-चौड़ी धरती और बेशुमार समय की कल्पना करो तो जैसी तुम्हारी भावना होगी उसी तरह तुम्हें दीखेगा । इसलिए राजन् ! यह भावनात्मक बाहरी दुनिया चिदात्मक अव्यक्त पर ही दिखाई पड़ रही है । अतः बाहरी अव्यक्त रूपी दीवार पर दीखनेवाली दुनिया रूपी तसवीर अव्यक्तमात्र ही तो है और वह अव्यक्त दीवार चिद्रूपिणी ही है ॥ ८७–८९½ ॥

यही कारण है कि योगीजन बहुत अरसे में पहुँचने लायक बहुत दूर की धरती को भी पलक झपकते निश्चयपूर्वक हाथ में रखे आँवले की तरह देख लेते हैं ॥ ९०½ ॥

अतः दूर या पास, थोड़े या ज्यादे समय केवल भावना से ही सिद्ध हुए हैं । ये सब चेतन रूप आईने पर आधारित हैं । ऐसा निश्चय कर तुम शुद्ध चेतन की भावना करो । भूल करना छोड़ो और मेरी तरह स्वतन्त्र हो जाओ ॥ ९१–९२½ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ परशुराम ! उस बालमुनि की ये बातें सुनकर महासेन की सारी भ्रान्ति दूर हो गई । जानने लायक रहस्य को पहचान कर उसका अन्तःकरण पवित्र हो गया । लगातार समाधि साधने से उसने अपनी भावना को सिद्ध कर लिया । फिर बेनियाज आध्यात्मिक ताकत पाकर बहुत दिनों तक इस धरती पर विहार करता रहा । फिर

स्वातन्त्र्यमधिगम्याऽथ चिरकालं विहृत्य तु ।
देहाभासमथोन्मूल्य महागगनसंश्रयः ॥ ९५ ॥
निर्वाणं परमं प्राप्तो महासेनोऽपि भार्गव ।
एवं जगत् सत्यभावभावनामात्रहेतुतः ॥ ९६ ॥
भाति सत्याऽऽत्मरूपेण विमृश्यैतद् भृगूद्वह ।
विचारेण शमं यायाद् भ्रान्तिस्ते चित्तसंश्रया ॥ ९७ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे शैललोकाख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

उसने अपनी देह की भी देखभाल करना बिलकुल ही छोड़ दिया । इसके बाद निर्विकल्प पराचिति का सहारा लेकर परम निर्वाण पद पा लिया ॥ ९३–९५½ ॥

अतः हे परशुराम ! केवल सच्चाई की भावना की वजह से ही यह सारी दुनिया सच नजर आती है—ऐसा सोचो । विचार करने से ही तुम्हारे मन की भ्रान्ति मिटेगी ॥ ९६–९७ ॥

चौदहवाँ अध्याय समाप्त ।

पञ्चदशोऽध्यायः

इति श्रुत्वा शैललोकाख्यानमत्यद्भुतं तदा ।
भूयोऽत्यन्तं विस्मितोऽभूद्रामो भृगुकुलोद्वहः ॥ १ ॥
विमृश्य गुरुणा प्रोक्तं बुद्ध्या निश्चित्य शुद्धया ।
दत्तात्रेयं पुनर्गत्वा नत्वा पप्रच्छ सादरम् ॥ २ ॥
भगवन् यत्त्वया प्रोक्तमाख्यानैर्विविधैस्तु तत् ।
तत्र सारमियज्ज्ञातं मयात्यन्तं विचारतः ॥ ३ ॥
संवेदनं सत्यमेकं संवेद्यं तत्र कल्पितम् ।
आदर्शनगरप्रख्यं मृषैव प्रविभावितम् ॥ ४ ॥
सा चितिः परमा शक्तिः संविद्रूपा महेश्वरी ।
स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रमव्यक्तादिप्रभेदितम् ॥ ५ ॥
भावयेत्स्वातन्त्र्यमात्राद्निरुपादानहेतुकम् ।
एतावत्तु मया ज्ञातं विचार्य सूक्ष्मया धिया ॥ ६ ॥
किं त्वेवंविधसंवित्तिर्वेद्यवन्ध्या निरूपिता ।
उपलब्धुमशक्यैव संवेद्यायाः सदा स्थितेः ॥ ७ ॥

(अष्टावक्र की वार्ता)

इस तरह शैललोक की अनोखी कहानी सुनकर भृगुनन्दन श्रीपरशुराम को बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ १ ॥

उन्होंने अपने गुरु की बातों पर श्रद्धापूर्वक पवित्र बुद्धि से विचार किया । फिर कुछ निश्चय कर मुनि दत्तात्रेय को सादर प्रणाम कर फिर पूछा ॥ २ ॥

पूज्यवर ! आपने अनेक कहानियों के माध्यम से जो कुछ कहा, उस पर काफी विचार करने के बाद मैंने उसका अभिप्राय यही समझा है ॥ ३ ॥

केवल अनुभूति ही सच है, उसमें बतलाने लायक जो कुछ है, वह बनावटी है । आईने में प्रतिभासित नगर की परछाई की तरह उसकी झूठी भावना कर ली गई है ॥ ४ ॥

वह अनुभूतिस्वरूपा महाशक्ति चिति ही साक्षात् महेश्वरी हैं । वह अपनी बेनियाज ताकत के बल पर बिना किसी उपादान के ही अपने-आपको दीवार बनाकर उस पर दुनिया की प्रकट-अप्रकट तसवीर की कल्पना कर लेती है । अपनी बुद्धि के अनुसार विचार कर मैंने इतना ही समझा है ॥ ५–६ ॥

इस तरह उस ज्ञानस्वरूपा भगवती को जानने या समझने के खयाल से उन्हें समझ से परे ही कहा गया है और यदि उनकी दशा हर हमेशा पाने लायक नहीं है

वेद्यं विना तु संवित्तेः कथं स्यादुपलम्भनम् ।
उपलम्भं विना तस्याः पुरुषार्थो न विद्यते ॥ ८ ॥
पुरुषार्थोऽपि मोक्षः स्यात्स वा किंविध उच्यते ।
विज्ञाने सति मोक्षः स्यान्मुक्ते व्यवहृतिः कथम् ॥ ९ ॥
ज्ञानिनोऽपि च दृश्यन्ते व्यवहारपरायणाः ।
कथं तेषां हि संवेद्यमुक्तं संवेदनं स्थितम् ॥ १० ॥
स्थितायां शुद्धसंवित्तौ व्यवहारः कथं भवेत् ।
विज्ञानमेकरूपं वै मोक्षोऽप्येकः फलं भवेत् ॥ ११ ॥
तत्कथं ज्ञानिनां भेदः स्थितौ लोके हि दृश्यते ।
केचित्कर्म प्रकुर्वन्ति काले सच्छास्त्रचोदितम् ॥ १२ ॥
केचित्समाराधयन्ति देवतां भिन्नवर्त्मभिः ।
केचित्समाधिपरमाः संहृतेन्द्रियमण्डलाः ॥ १३ ॥
केचित्तपः प्रकुर्वन्ति देहेन्द्रियविशोषणम् ।
केचिच्छिष्यान्बोधयन्ति पृथक्प्रवचनैः स्फुटम् ॥ १४ ॥
केचिद्राज्यं प्रशासन्ति दण्डनीत्युक्तवर्त्मना ।
केचित्प्रवादं कुर्वन्ति सदःसु प्रतिवादिभिः ॥ १५ ॥
केचिच्छास्त्राणि विविधान्यजस्रं रचयन्ति वै ।
अन्ये केवलमुग्धत्वमावहन्ति सदैव हि ॥ १६ ॥

तो फिर ज्ञान की पहुँच से परे होने की वजह से वह कैसे पाई जा सकती है ? और उसे पाये बिना पुरुषार्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती ? ॥ ७–८ ॥

पौरुष भी यदि जीवन-मरण से छुटकारा है तो कैसे ? यदि ज्ञान से मुक्ति मिलती है, यदि ज्ञान होने पर मुक्ति मिल जाती है तो फिर उस जीवन्मुक्त का व्यवहार कैसे होता है ? ॥ ९ ॥

ज्ञानियों को भी तो सर्वथा काम-काज में लीन देखा जाता है। ऐसी स्थिति में उनका ज्ञान भी पारस्परिक सम्बन्ध से विहीन कैसे रहता है ? ॥ १० ॥

यदि उनका ज्ञान पारस्परिक व्यवहारविहीन ही रहता है तो फिर उनका काम-काज कैसे चलता है ? फिर ज्ञान तो सबका एक जैसा ही होता है और उनकी फल-मुक्ति भी तो एक जैसी ही है। फिर इस संसार में ज्ञानियों की स्थिति में अन्तर क्यों दीख पड़ता है ? ॥ ११½ ॥

ज्ञानियों के काम में भी एकरूपता नहीं दीखती है। कुछ तो शास्त्रों में जो कहा गया है तदनुसार काम करते हैं। कुछ अनेक विधियों से देवाराधन करते हैं। कुछ इन्द्रियों को नियन्त्रित कर समाधि लगाते हैं। कुछ देह को सुखाकर कठोर तप करते हैं। कुछ अपने विशिष्ट एवं स्पष्ट प्रवचनों से शिष्यों को उपदेश देते हैं। कुछ दण्ड-नीति का विधिवत् पालन कर राज्य का प्रशासन करते हैं। कुछ सभा में प्रतिपक्षियों

केऽपि लोकविगर्ह्यां तु वृत्तिं नित्यमिहास्थिताः ।
त इमे ज्ञानिन इति प्रथिता भूरिशोचनैः ॥ १७ ॥
तत्कथं साधनफलाभेदेऽपि स्थितिभिन्नता ।
किमेते समविज्ञानास्तारतम्यमुताश्रिताः ॥ १८ ॥
एतत्सर्वमशेषेण प्रवक्तुं मे समर्हसि ।
शिष्येऽनन्यशरण्ये ते निसर्गसदयं मनः ॥ १९ ॥
इत्यत्रिसूनुरापृष्टो भार्गवेण प्रसन्नधीः ।
मत्वा योग्यं प्रश्नजातं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ २० ॥
राम बुद्धिमतां श्रेष्ठ नूनं स्पृशसि तत्पदम् ।
सद्विमर्शपरो यस्त्वमतो ज्ञातुं प्रभावितः ॥ २१ ॥
एतदेव हि तच्छक्तिपातो यत्सद्विमर्शनम् ।
भगवच्छक्तिपातेन विना कः श्रेय आप्नुयात् ॥ २२ ॥
कृत्यमात्मदेवताया जानीह्येतावदेव हि ।
यत्सद्विमर्शनं नित्यं वर्धयेत्सुप्रसादिता ॥ २३ ॥

के साथ वाद-विवाद करते हैं । कुछ निरन्तर अनेक तरह के शास्त्रों की रचना में लगे रहते हैं और कुछ हमेशा पागलपन का स्वांग बनाये रहते हैं ॥ १२–१६ ॥

कुछ लोग इस दुनिया में निन्दनीय काम करते रहते हैं, फिर कुछ गंभीर चिन्तक उन्हें ज्ञानी मानते हैं ॥ १७ ॥

हिकमत और नतीजे में किसी तरह का फर्क न होने केबावजूद इनकी स्थितियों में भिन्नता क्यों होती है ? इन ज्ञानियों का ज्ञान एक जैसा ही होता है कि उनमें कम या ज्यादे भी होते हैं ॥ १८ ॥

इन सारी बातों का मर्म क्या है ? दया कर मुझे समझा दीजिए न । आपके सिवा दूसरा कोई मेरा सहारा है भी नहीं । अपने इस शिष्य के प्रति आपका दिल तो दया से भरा ही है ॥ १९ ॥

परशुराम के प्रश्न सुनकर मुनि दत्तात्रेय काफी प्रसन्न हुए । उनके प्रश्नों को उन्होंने उचित समझा । फिर उसका जवाब देना शुरू किया ॥ २० ॥

परशुराम ! तुम तो समझदारों में चुनिन्दा हो । निश्चय ही तुमने उस पद को छू लिया है । तुम अच्छे खयालों में डूबे रहते हो, इसीलिए उसे जानने की लियाकत भी रखते हो ॥ २१ ॥

सुन्दर विचार करना ही ईश्वर की कृपाशक्ति पाना है । बिना उसकी कृपा भला कोई उस परमपद को कैसे पा सकता है ? ॥ २२ ॥

उस आत्मदेव का काम तो इतना भर ही समझो कि वह खुश होकर लगातार अच्छे विचार करने की क्षमता बढ़ाता रहे ॥ २३ ॥

यत्त्वया विदितं तत्तु तादृक् सत्यं नहीतरत् ।
किन्तु तत्तादृशमपि त्वयोक्तं परचिद्वपुः ॥ २४ ॥
न ते सुविदितं राम यत एवं वदस्यतः ।
ताटस्थ्येन तु यो यावद्वेद तावन्न वेद वै ॥ २५ ॥
यतः सा विदिता सम्यक्ताटस्थ्यमुपशामयेत् ।
तटस्थसंवेदनं तु स्वप्नसंवेदनोपमम् ॥ २६ ॥
यथा स्वप्ननिधिप्राप्तिः पुरुषाणां निरर्थिका ।
तथा तटस्थविज्ञानममुख्यफलदं भवेत् ॥ २७ ॥
अत्र ते कथयिष्यामि प्राग्वृत्तमतिशोभनम् ।
पुरा विदेहेषु कश्चिदासीद्राजा सुधार्मिकः ॥ २८ ॥
वृद्धप्रज्ञो हि जनकः प्रविज्ञातपरावरः ।
स कदाचित्स्वात्मदेवीमीजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ २९ ॥
तत्राजग्मुर्ब्राह्मणाद्या विद्यावन्तस्तपस्विनः ।
कलाभिज्ञा वैदिकाश्च यज्वानश्चापि सत्रिणः ॥ ३० ॥
तत्काल एव वरुणो यष्टुं समुपचक्रमे ।
तेनोपहूता विप्राद्या न ययुस्तत्र भूरिशः ॥ ३१ ॥

तुमने जो कुछ समझा है, यह उतना भर ही तो है, इससे अलग और कुछ नहीं है, किन्तु वह वैसा होने पर भी तुमने जिस परा चित्शक्ति की चर्चा की है, उसका अभी तुम्हें ठीक-ठीक पता नहीं है। इसी से तुम ऐसा सन्देह करते हो ॥ २४½ ॥

साधक जब तक उसे निरपेक्ष भाव से जानता है तब तक उसे सही रूप में नहीं जानता है। क्योंकि जब उसकी सही जानकारी मिल जाती है तो तटस्थता अपने आप खत्म हो जाती है। निरपेक्ष भाव से उसे जानना ही सपने की जानकारी की तरह है ॥ २५–२६ ॥

जैसे सपने में खजाना पा लेना आदमी के किसी काम का नहीं होता, उसी तरह उसका निरपेक्ष बोध मनुष्य को जीवन्मुक्त नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

अब मैं तुम्हें एक अतिरोचक पुरानी कहानी सुनाता हूँ। विदेह राज्य में पहले जनक नाम का कोई एक धर्मात्मा एवं बुद्धिमान् राजा हुआ। उसे परमात्मा का ज्ञान हो चुका था ॥ २८½ ॥

किसी समय अनेक यज्ञों के द्वारा उसने अपने आत्मदेव की आराधना की। उसके यज्ञों में अनेक विद्वान् एवं तपस्वी ब्राह्मण सम्मिलित हुए। वे कलाविद्, वेदवेत्ता तथा सोमयाग के अनुष्ठाता थे ॥ २९–३० ॥

उसी समय वरुण ने भी एक यज्ञ प्रारम्भ किया। उन्होंने ने भी इन ब्राह्मणों को अपने यज्ञानुष्ठान में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। किन्तु जनक के प्रति

जनके ह्यभिसम्प्रीताः पूजितास्तेन तर्पिताः ।
अथाजगाम वरुणदायादो बौद्धसम्पदा ।। ३२ ।।
विप्रवेषधरो नेतुं ब्राह्मणान्कूटवर्त्मना ।
आसाद्य यज्ञसदनं नृपं संयोज्य चाशिषा ।। ३३ ।।
आक्षिपत्तत्र सभ्यांस्तु शृण्वताञ्च सभासदाम् ।
राजंस्ते यज्ञसदनमत्यन्तं नैव शोभते ।। ३४ ।।
कमलाकरवत्काककङ्कवृन्दस्य सञ्चयात् ।
सभा विद्वत्समुदयैः शोभिनी शोभतेतराम् ।। ३५ ।।
शारदं हंससङ्घातैः सपद्मं तु सरो यथा ।
तदत्र विद्याविशदं न पश्याम्येकमप्यलम् ।। ३६ ।।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि नात्र मे संस्थितिर्भवेत् ।
कथं सभामिमां मूर्खप्रचुरां संविशाम्यहम् ।। ३७ ।।
एवं वारुणिना प्रोक्ताः सभ्याश्चुक्रुधुरञ्जसा ।
किमरे द्विजबन्धो ! त्वमधिक्षिपसि सर्वशः ।। ३८ ।।
केयं तवेदृशी विद्या यया सर्वे वयं जिताः ।
वृथा कत्थसि दुर्बुद्धे जित्वास्मांस्त्वं गमिष्यसि ।। ३९ ।।

अधिक स्नेह तथा उसकी पूजा से प्रसन्न एवं सन्तुष्ट अनेक यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण वहाँ नहीं गये ।। ३१½ ।।

तब वरुण का पुत्र अपनी चालाकी से छल-फरेब का सहारा लेकर ब्राह्मण वेष में ब्राह्मणों को ले जाने के लिए जनकजी के यज्ञ में पहुँचा ।। ३२½ ।।

उसने यज्ञशाला में उपस्थित होकर राजा को आशीर्वाद दिया । फिर सभासदों को सुनाकर उन पर व्यंग्य करते हुए कहा—'राजन् ! कौए और चीलों के झुण्ड इकट्ठे हो जाने से जैसे किसी झील की शोभा नहीं बढ़ जाती, उसी तरह आदमियों की भीड़ से आपके यज्ञमण्डप की शोभा नहीं बढ़ी है ।। ३३–३४½ ।।

हंसों की पाँति और कमलों की कतार से जैसे सरोवर शोभता है उसी तरह सुन्दर सभा की शोभा तो सुधीजनों से ही बढ़ती है ।। ३५½ ।।

सो तो इस सभा में मुझे एक भी विद्वान् सदस्य नजर नहीं आता । तुम्हारा कल्याण हो, मैं तो चला । यहाँ मेरा निर्वाह नहीं हो सकता । इन मूर्खों की सभा में मैं बैठ भी नहीं सकता ।। ३६–३७ ।।

ब्राह्मणवेषधारी वरुण के बेटे की बातें सुनकर सभा में मौजूद विद्वन्मण्डल स्वभाव से ही झुंझला उठा और कहा – अरे नीच ! एक साथ तुम सबका अपमान कैसे कर रहा है ? ।। ३८ ।।

तुझमें वह ऐसी कौन-सी विद्या है; जिसके बल तू हमें जीत सकता है ? बेवकूफ, बेमतलब तू क्यों बकवास करता है ? अब हमें पराजित करके ही जाना ।। ३९ ।।

प्रायो भूलोकसंस्थाना विद्वांसः सङ्गताः खलु ।
किं त्वं भूलोकमेवाद्य जेतुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४० ॥
ब्रूहि का ते भवेद्विद्या ययाऽस्माञ्जेतुमिच्छसि ।
इत्युक्तवत्सु सभ्येषु वारुणिः पुनराह तान् ॥ ४१ ॥
समयेन विजेष्यामि सर्वान् वः क्षणमात्रतः ।
अहं जितो भवद्भिस्तु समुद्रे स्यान्निमज्जितः ॥ ४२ ॥
युष्मास्वहं मज्जयामि जितं जितमथापि वा ।
उपेत्यैवं तु समयं विवदन्तु मया सह ॥ ४३ ॥
इत्युक्त्वा सम्मतिं चक्रुः सभ्या वादाय तेन तु ।
विवादं चक्रुरत्यन्तं तेन वारुणिना द्विजाः ॥ ४४ ॥
जिजेय वारुणिर्विप्रान् वितण्डाजल्पवर्त्मना ।
सिन्धौ निमज्जिता विप्राः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४५ ॥
निमज्जितास्तु ये विप्रा दूतैस्तैर्वारुणैर्हृताः ।
वारुणं यज्ञमासाद्य मुमुदुः पूजिता भृशम् ॥ ४६ ॥
मज्जितं पितरं श्रुत्वा कहोलं तत्सुतस्ततः ।
अष्टावक्रः समागत्य ज्ञानवैतण्ड्यजल्पकः ॥ ४७ ॥
विजित्य वारुणिं सिन्धावादिदेश निमज्जने ।

इस धरती के प्रायः सभी विद्वान् यहाँ इकट्ठे हैं । क्यों रे मूर्ख ! अकेले ही तुम सारी दुनिया जीतने चला है ? ॥ ४० ॥

बोल, तेरी वह क्या विद्या है, जिसके बल पर तू हमें जीतने का मनसूबा बाँध रहा है ? सभासदों के ऐसा कहने पर वरुण के बेटे ने कहा —॥ ४१ ॥

एक शर्त्त पर चुटकी बजाते ही मैं तुम सबको जीत सकता हूँ । अगर जीत आप लोगों की हुई तो मुझे समुद्र में डुबा देना, नहीं तो मैं तुममें से जिसे-जिसे पराजित करूँगा, उसे सागर में डुबो दूँगा । इस शर्त्त को मानो तो फिर मेरे साथ बहस शुरू करो ॥ ४२–४३ ॥

इस शर्त्त को कबूल कर पण्डितों ने वरुण के बेटे के साथ जमकर शास्त्रार्थ किया ॥ ४४ ॥

वरुण के बेटे ने वितण्डा अर्थात् निरर्थक दलील पेश कर और जल्प अर्थात् बकवास कर हजारों पण्डितों को हराकर समुद्र में डुबा दिया ॥ ४५ ॥

समुद्र में डुबाये गये उन ब्राह्मणों को वरुण के दूत उठाकर वरुणलोक पहुँचा देते थे । वरुण की यज्ञशाला में उनकी आवभगत से वे काफी खुश थे ॥ ४६ ॥

मुनि कहोल के बेटे का नाम अष्टावक्र था । वह दूसरे के मत को दबाकर अपने मत की स्थापना करने में तथा बकवास करने में बड़ा ही कुशल था । उसे जब पता चला कि उसके बाप को वरुण के पुत्र ने शास्त्रार्थ में पराजित कर समुद्र में डुबा

अथ प्रकाशमापन्नो वारुणिर्द्विजमुख्यकान् ॥ ४८ ॥
समानयत्स्वलोकस्थानष्टावक्रेण निर्जितः ।
अथागतेषु विप्रेषु कहोलतनयो भृशम् ॥ ४९ ॥
विप्रान् विमोचितान् सर्वानत्यवर्त्तत दर्पतः ।
अष्टावक्रेण विमता विप्राः खेदमुपागताः ॥ ५० ॥
तत्काल आगता काचित्तापसी शरणं ययुः ।
तान्समाश्वास्य विप्रान् सा काषायाम्बरवासिनी ॥ ५१ ॥
जटिला नित्यतरुणी मनोहरवपुर्धरा ।
सभामुपेत्य प्रोवाच नृपेणाभिसुपूजिता ॥ ५२ ॥
कहोलसुत वत्स त्वमत्यन्तं बुद्धिमानसि ।
त्वया विमोचिता विप्रा वादे निर्जित्य वारुणिम् ॥ ५३ ॥
अहं पृच्छामि किञ्चित्त्वां वद हित्वा सुकैतवम् ।
यत्पदं विदितं सर्वामृतत्वप्रतिपादकम् ॥ ५४ ॥
यत्पदे विदिते सर्वसन्देहः प्रलयं व्रजेत् ।
अविज्ञातं न किञ्चित्स्यादाशास्यं वा न किञ्चन ॥ ५५ ॥
अवेद्यं विदितं तच्चेद्वद मामुप सत्वरम् ।
तापस्यैवं समापृष्टः कहोलतनयोऽब्रवीत् ॥ ५६ ॥

दिया, तब वह जनक की यज्ञशाला में आया और शास्त्रार्थ में उसे हराकर समुद्र में डुबा देने का आदेश दिया ॥ ४७½ ॥

अष्टावक्र से पराजित होने पर छद्मवेषधारी वरुणपुत्र अपने रूप में आ गया और वरुण की यज्ञशाला से उन ऋषियों को लौटा लाया ॥ ४८½ ॥

वरुणलोक से ब्राह्मणों के लौट आने पर कहोल-पुत्र को बड़ा घमंड हुआ। वरुण-पाश से मुक्त ब्राह्मणों के बीच वह अपनी डींग हाँकने लगा। इससे अपने को अपमानित महसूस कर उन ब्राह्मणों को काफी खेद हुआ ॥ ४९–५० ॥

उसी समय वहाँ एक तापसी आयी। वह गेरुआ रंग का कपड़ा पहने थी। उसके माथे पर लम्बी जटाएँ थीं। योगाभ्यास के कारण उसकी जवानी बरकरार थी। उसकी देह काफी मनमोहक थी। राजा ने उसकी काफी आवभगत की। विद्वान् ब्राह्मणों ने उसकी शरण ली। उन्हें इसने सान्त्वना दी, ढाढस बढ़ाया। फिर सभा में आकर कहा— ॥ ५१–५२ ॥

बेटे कहोलसुत ! तुम तो बड़े ही अक्लमंद हो। तुमने शास्त्रार्थ में वरुणपुत्र को पराजित कर इन ब्राह्मणों को छुड़ा लिया ॥ ५३ ॥

मेरे भी कुछ सवाल हैं। यदि निश्छल भाव से जवाब दे सको तो बड़ा अच्छा। वह कौन पद है जिसे जान लेने पर कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता ? सारी शंकाएँ मिट जाती हैं ? हर तरह की अमरता मिल जाती है ? हर तरह की चाह मिट

विदितं तत्पदं भूयो वच्मि तापसि संशृणु ।
न मे ह्यविदितं लोके ह्यस्ति किञ्चित्कियत्त्विदम् ॥ ५७ ॥
मया शास्त्राणि सर्वाणि भूयः संलुठितानि वै ।
यत्त्वं पृच्छसि तद्वक्ष्ये शृणु तापसि तत्त्वतः ॥ ५८ ॥
तद्धि सर्वजगद्धेतुरादिमध्यान्तवर्जितम् ।
देशकालानवच्छिन्नं शुद्धाखण्डचिदात्मकम् ॥ ५९ ॥
यदुपाश्रित्य वै सर्वं जगदेतद्विराजते ।
आदर्शनगरप्रख्यं तदेतत्परमं पदम् ॥ ६० ॥
प्राप्नोति तद्विदित्वैव निश्चलामृतसंस्थितिम् ।
आदर्शे विदिते यद्वन्न सन्देहः क्वचिद्भवेत् ॥ ६१ ॥
प्रतिबिम्बेष्वनन्तेषु न स्यादविदितं तथा ।
नाशास्यं वा भवेत् किञ्चिदेवं प्रविदिते परे ॥ ६२ ॥
तच्चाप्यवेद्यमन्यस्य वेदकादेरभावतः ।
एवं तापसि तत्तत्वं शास्त्रदृष्ट्या विभावितम् ॥ ६३ ॥

जाती है ? ऐसा जो नहीं जानने योग्य पद है, उसे यदि तुम जानते हो तो जल्द से जल्द मुझे बतला दो । तापसी का सवाल सुनकर अष्टावक्र ने कहा— ॥ ५४–५६ ॥

हे तपस्विनी ! दुनिया में ऐसी कोई बात नहीं जिसे मैं नहीं जानता । तुम्हारे इस सवाल में क्या रखा है ? उस पद को मैं अच्छी तरह जानता हूँ । सुनो, मैं बतलाता हूँ ॥ ५७ ॥

मैंने शास्त्रों का पर्यालोचन अनेक बार किया है । तुमने जो सवाल किया है, उसका सही जवाब मैं अभी बतलाता हूँ, सुनो ॥ ५८ ॥

तुमने जिस पद के बारे में पूछा है, वही तो सारी दुनिया का मूल कारण है । उस पद का न आदि है, न अन्त और न कहीं इसका बीच है । इसकी कोई सीमा भी नहीं है । यह देश-काल से परे शुद्ध, अखण्ड और चिन्मय है ॥ ५९ ॥

आईने में नगर की परछाईं की तरह, जिसका सहारा लेकर यह सारी दुनिया टिकी है, वही तो तुम्हारा पूछा हुआ परम पद है ॥ ६० ॥

जैसे आईने को जान लेने पर उसमें प्रतिबिम्बित किसी भी वस्तु के बारे में कहीं कुछ भी शक नहीं रह जाता, उसी तरह उस पद को जान लेने पर ही साधक अडिग अमर पद पा लेता है ॥ ६१ ॥

आईने को जान लेने पर जैसे उसकी अनगिनत परछाईयों में से एक भी अनजान नहीं रह जाती । उसी तरह परम पद को जान लेने के बाद किसी वस्तु की चाह नहीं रह जाती ॥ ६२ ॥

निश्चय ही उसे कोई दूसरा जान नहीं सकता, क्योंकि कोई दूसरा उसका ज्ञाता है ही नहीं । तापसी ! शास्त्रों में उसके बारे में ऐसा ही निर्णय किया गया है ॥ ६३ ॥

इत्यष्टावक्रवचनं श्रुत्वा सा पुनरब्रवीत् ।
मुनिदारक सूक्तं ते यथावत्सर्वसम्मतम् ॥ ६४ ॥
यदुक्तं वेदकाभावादवेद्यं तदिति त्वया ।
प्राप्नोति तद्विदित्वैव चामृतं पदमव्ययम् ॥ ६५ ॥
इति पूर्वोत्तरवचो मन्यसे सङ्गतं कथम् ।
अवेद्यं चेन्न जानामि नास्तीति च निरूपय ॥ ६६ ॥
अस्ति जानासि यदि तदवेद्यमिति मा वद ।
अथैतत्तु त्वया विप्र शास्त्रदृष्ट्या विभावितम् ॥ ६७ ॥
न तत्स्वयं विजानासि तस्मात्तन्नापरोक्षकम् ।
दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः सर्वं प्रतिबिम्बं यथास्थितम् ॥ ६८ ॥
आदर्शं न विजानासि प्रत्यक्षेणेति तत्कथम् ।
एवं वदन् सभामध्ये जनकस्यास्य वै पुरः ॥ ६९ ॥
परिभूतं स्वमात्मानं मन्यसे नो कथं वद ।
एवमुक्तस्तया तत्र नैव प्रोवाच किञ्चन ॥ ७० ॥
विमना इव सञ्जातो लज्जितोऽभवदञ्जसा ।
अवाङ्मुखः क्षणं स्थित्वा विचार्यान्तिस्तयेरितम् ॥ ७१ ॥
तत्प्रश्नोत्तरमप्राप्य तां प्राह द्विजसत्तमः ।

अष्टावक्र की बातें सुनकर तापसी फिर बोली — मुनिपुत्र ! तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है । वह यथार्थ और सर्वसम्मत भी है ॥ ६४ ॥

एक ओर तुमने कहा कि उसे कोई नहीं जानता, इसलिए कि वह पद 'अवेद्य' है और दूसरी ओर तुम्हीं कहते हो — उसे जान लेने पर साधक अविनाशी पद पा लेता है । अब तुम्ही बतलाओ, तुम्हारी इन दोनों बातों की संगति कैसे होगी ? ॥ ६५½ ॥

यदि वह नहीं जानने योग्य है तो कहो कि मैं उसे नहीं जानता अथवा इस तरह का कोई पद है ही नहीं । यदि वह पद है और उसे तुम जानते हो तो उसे 'नहीं जाना जा सकता है' ऐसा मत कहो ॥ ६६½ ॥

ब्राह्मणदेवता ! इसके अलावा तुमने तो इस बात की शास्त्र की दृष्टि से कल्पना कर ली है । इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति तो तुम्हें है ही नहीं । अतः यह तुम्हारा स्वानुभूतिजन्य ज्ञान तो है ही नहीं ॥ ६७½ ॥

जब तुम सारी परछाईं इन आँखों से जस-के-तस देखते हो तो फिर उसके आधारभूत आइने को उसी तरह क्यों नहीं जानते ? ॥ ६८½ ॥

राजा जनक के सामने भरी सभा में ऐसी बेतुकी बातें बोलते हुए भी अपने को तुम पराजित नहीं मानते ? ॥ ६९½ ॥

तापसी की बात सुनकर वह हतप्रभ हो गया । मुँह से आवाज नहीं फूटी । सकपका कर लजा गया ॥ ७०½ ॥

तापस्यहं न जानामि त्वत्प्रश्नस्योत्तरं वचः ॥ ७२ ॥
शिष्योऽहं ते वदैतन्मे कथमेतन्निरूपितम् ।
नाहं वदाम्यनृतकं तपोहरमनर्थकम् ॥ ७३ ॥
इत्यापृष्टा तापसी सा प्रसन्ना तस्य सत्यतः ।
अष्टावक्रं प्रत्युवाच शृण्वतां च सभासदाम् ॥ ७४ ॥
वत्सैतदविदित्वैव बहवो मोहमागताः ।
शुष्कतर्कैरविज्ञेयं सर्वत्रैव सुगोपितम् ॥ ७५ ॥
एतावत्सु सभासत्सु न विजानाति कश्चन ।
राजाऽयं वेत्त्यहं वापि वेद्मि नान्यस्तु कश्चन ॥ ७६ ॥
सर्वत्र हि विवादेषु नैतत्प्रश्नोत्तरं क्वचित् ।
प्रायो विदुर्हि विद्वांसस्तर्कमात्रसमाश्रयाः ॥ ७७ ॥
नैतत्तर्केण सुज्ञेयमपि सूक्ष्मधिया क्वचित् ।
विना सद्गुरुसेवाया देवतानुग्रहादिना ॥ ७८ ॥
मुनिपुत्राभिधास्यामि शृण्वेतत्सूक्ष्मया धिया ।
नेदं श्रुत्वापि विज्ञेयं ताटस्थ्यं प्राणया धिया ॥ ७९ ॥

भरी सभा में उसकी हेकड़ी गुम हो गई। मुँह लटकाकर बैठ गया। लाख माथा-पच्ची करने पर भी जब उस तापसी के सवाल का जवाब नहीं सूझा तब उस ब्राह्मण ने कहा—॥ ७१½ ॥

हे तापसी ! मैं आपके सवाल का सही जवाब तो नहीं जानता। पर शास्त्र में ऐसी विरोधी बातें क्यों मिलती हैं ? मैं तो आपका शिष्य हूँ, मुझे समझा दीजिए न। मैं तप को घटानेवाला, किसी बात का उलटा मतलब निकालनेवाला झूठ तो नहीं बोलता॥ ७२–७३ ॥

अष्टावक्र की सच्ची बातें सुनकर वह तापसी खुश हो गयी तथा भरी सभा में सबों को सुनाकर उसे कहने लगी॥ ७४ ॥

बेटे ! इस मर्म को ठीक ढंग से नहीं समझ पाने के कारण ही बहुत सारे लोग भ्रमित हो जाते हैं। यह बात कोरे तर्क से समझ में नहीं आती। शास्त्रों में भी इसे छिपाकर रखा गया है॥ ७५ ॥

इस सभा में मौजूद एक भी सभासद इस मर्म को नहीं जानते। इस रहस्य को या तो राजा जनक जानते हैं या फिर मैं जानती हूँ और कोई नहीं॥ ७६ ॥

वाद-विवाद में भी कहीं इस तरह का सवाल-जवाब नहीं होता। विद्वज्जन भी तर्क का सहारा लेकर प्रायः इस मर्म को जानने की कोशिश करते हैं॥ ७७ ॥

बिना गुरु की सेवा और इष्ट की कृपा के, केवल सूक्ष्म बुद्धि या तर्क के सहारे आज तक इसे कोई नहीं जान सका है॥ ७८ ॥

यावदेतद्धि विज्ञानमनुदाहृतमात्मनि ।
तावत्सहस्रशः प्रोक्तं श्रुतं चापि निरर्थकम् ॥ ८० ॥
यथा कश्चित्स्वकण्ठस्थं मुक्ताहारं प्रमादतः ।
अविज्ञाय हृतं चौरैर्मन्यते मूढभावतः ॥ ८१ ॥
प्रबोधितोऽपि स पुनः कण्ठेऽस्तीति हि केनचित् ।
स्वात्मानमनुदाहृत्य यावत्कण्ठं न पश्यति ॥ ८२ ॥
तावन्नाप्नोति कण्ठस्थं हारं सूक्ष्मविमर्श्यपि ।
एवं मुनिसुतात्मानं स्वस्वभावं निशम्य च ॥ ८३ ॥
भूयोऽतिनिपुणोऽप्यन्तरात्मानमनुदाहरेत् ।
यावत्तावद्बहिः कुत्र कथं तद्विदितं भवेत् ॥ ८४ ॥
यथा हि दीपो विषयान्प्रकाशयति सर्वतः ।
स्वयं प्रकाश्यतां नैति क्वचिद्दीपस्य कस्यचित् ॥ ८५ ॥
प्रकाशते स्वयं चैवानपेक्ष्यान्यं प्रकाशकम् ।
एवं सूर्योदये सर्वे प्रकाशकतया स्थिताः ॥ ८६ ॥

हे ऋषिपुत्र ! पूरी सावधानी के साथ सुनो, मैं तुम्हें यह रहस्य समझाती हूँ। क्योंकि उदासीन मन से सुनकर भी इसे समझना कठिन है ॥ ७९ ॥

जब तक अपने भीतर इस विज्ञान की अनुभूति नहीं होती, हजारों बार इसका सुनना या सुनाना भी बेकार ही होता है ॥ ८० ॥

विशेष—हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त होते ही प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है। स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान; इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है, न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही रह जाती है। स्वयं से स्वयं प्रकाशित होता है। ज्ञान का स्वयं पर लौट जाना मनुष्य-चेतना की सबसे बड़ी क्रान्ति है। क्योंकि 'मैं ऐसा हूँ' इसका निर्णय करने के लिए अन्तः-करण कभी शान्त होकर अपने स्वरूप के सामने स्वयं को क्या रख पाता है। ऐसी क्रान्ति से ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और मानव-जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का रहस्य उसके सामने खुलता है।

जैसे कोई आदमी गले में लटकी मोती की माला को भूल से न जानकर अपनी अज्ञानता के कारण समझता है कि किसी चोर ने उसे चुरा ली ॥ ८१ ॥

अगर कोई उसे गले में भूल जाय तो दूसरों के लाख समझाने के बावजूद जब तक उसे वह खुद देख नहीं लेता, उस पर भरोसा नहीं करता। उसी तरह हे मुनिपुत्र ! सूक्ष्म विचारक व्यक्ति भी अपनी आत्मा और आत्मा के स्वभाव के बारे में बारम्बार सुनने के बावजूद भी जब तक शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सामने नहीं होता तब तक उसे बाहर कहाँ और कैसे जान सकता है ? ॥ ८२–८४ ॥

जैसे चिराग चारों ओर हर चीज को दिखलाता है, किन्तु खुद कभी दूसरे चिराग

एवं च किं दीपमुखा अप्रकाश्यत्वहेतुतः ।
न सन्ति न प्रकाशन्ते इति वक्तुं हि युज्यते ॥ ८७ ॥
एवं प्रकाश्यभूतेषु सत्सु दीपमुखेषु वै ।
अत्यन्तमप्रकाश्यं यच्चित्तत्त्वं तत्कुतो वद ॥ ८८ ॥
असंवेद्यं प्रकाशेत चेदत्र विचिकित्सितम् ।
तस्मात्त्वमन्तर्मुखया दृष्ट्या सम्यग्विचारय ॥ ८९ ॥
चिच्छक्तिरेषा परमा त्रिपुरा सर्वसंश्रया ।
सर्वविभासिनी कुत्र कदा वा न प्रकाशते ॥ ९० ॥
यदा सा न प्रकाशेत प्रकाशेत तदा नु किम् ।
अप्रकाशेनापि सैव चितिशक्तिः प्रकाशते ॥ ९१ ॥
अप्रकाशो यया भाति सा न भायात्कथं वद ।
भाति चेत्सा कथं भाति विमृशैतत्सुसूक्ष्मतः ॥ ९२ ॥
अत्र सर्वे न पश्यन्ति कुशला अपि पण्डिताः ।
अनन्तर्दृष्टयस्तेन मोहिताः संसरन्ति च ॥ ९३ ॥
यावद् दृष्टिः प्रवृत्तिं तु न परित्यज्य तिष्ठति ।
तावदन्तर्दृष्टितापि न स्यादेव कथञ्चन ॥ ९४ ॥

...हारे नहीं दीखता है । वह किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा किये बिना खुद ही ...काशित होता है, उससे खुद प्रकाश झरता है; इसी तरह सूर्योदय होने पर सब ...काशक रूप में ही दीखते हैं ॥ ८५–८६ ॥

ऐसी स्थिति में प्रकट नहीं करने योग्य होने के कारण क्या यह कहना ठीक है कि ...ह दिया है ही नहीं या जानते ही नहीं' ॥ ८७ ॥

इस तरह प्रकाशित होनेवाले दीपक आदि के बारे में यदि ऐसी बातें हैं तो जो ...भी किसी से प्रकट होने योग्य नहीं है, उस चेतन तत्त्व के बारे में यदि यह कहा ...ता है कि वह जानने योग्य नहीं है और वह प्रकट दीखती भी है तो इसमें सन्देह ...यों होता है ? अतः तुम इस पर भीतरी आँखों से जमकर विचार करो ॥८८–८९॥

वही चिन्मयी शक्ति महादेवी त्रिपुरा सबका आधार है । वही सबको प्रकाशित ...रनेवाली है । अतः वह कब और कहाँ प्रकाशित नहीं होती ? ॥ ९० ॥

...सके सिवा और कौन है जो प्रकाशित हो ? अप्रकाश रूप से भी वही चित्‌शक्ति ...काशित होती रहती है ॥ ९१ ॥

...ला जिससे 'अप्रकाश' का बोध होता है, वह खुद क्यों नहीं दीखेगी ? और यदि ...खती है तो कैसे दिखलायी पड़ती है—इस पर गंभीरता से विचार करो ॥ ९२ ॥

बिना अन्तर्दृष्टि के सूक्ष्म विचारक भी इसे समझने में असमर्थ हैं । इसी वजह से ...मोहित होकर संसारचक्र में पड़े रहते हैं ॥ ९३ ॥

जब तक बाहरी प्रवृत्ति से मुँह मोड़कर व्यक्ति स्थिर नहीं हो जाता, तब तक उसे ...न्तर्दृष्टि नहीं मिल सकती है ॥ ९४ ॥

यावदेतद्धि विज्ञानमनुदाहृतमात्मनि ।
तावत्सहस्रशः प्रोक्तं श्रुतं चापि निरर्थकम् ॥ ८० ॥
यथा कश्चित्स्वकण्ठस्थं मुक्तहारं प्रमादतः ।
अविज्ञाय हृतं चौरैर्मन्यते मूढभावतः ॥ ८१ ॥
प्रबोधितोऽपि स पुनः कण्ठेऽस्तीति हि केनचित् ।
स्वात्मानमनुदाहृत्य यावत्कण्ठं न पश्यति ॥ ८२ ॥
तावन्नाप्नोति कण्ठस्थं हारं सूक्ष्मविमर्श्यपि ।
एवं मुनिसुतात्मानं स्वस्वभावं निशम्य च ॥ ८३ ॥
भूयोऽतिनिपुणोऽप्यन्तरात्मानमनुदाहरेत् ।
यावत्तावद्बहिः कुत्र कथं तद्विदितं भवेत् ॥ ८४ ॥
यथा हि दीपो विषयान्प्रकाशयति सर्वतः ।
स्वयं प्रकाश्यतां नैति क्वचिद्दीपस्य कस्यचित् ॥ ८५ ॥
प्रकाशते स्वयं चैवानपेक्ष्यान्यं प्रकाशकम् ।
एवं सूर्योदये सर्वे प्रकाशकतया स्थिताः ॥ ८६ ॥

हे ऋषिपुत्र ! पूरी सावधानी के साथ सुनो, मैं तुम्हें यह रहस्य समझाती हूँ । क्योंकि उदासीन मन से सुनकर भी इसे समझना कठिन है ॥ ७९ ॥

जब तक अपने भीतर इस विज्ञान की अनुभूति नहीं होती, हजारों बार इसका सुनना, या सुनाना भी बेकार ही होता है ॥ ८० ॥

विशेष — हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त होते ही प्रज्ञा बन जाती है । विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है । स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान; इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है, न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही रह जाती है । स्वयं से स्वयं प्रकाशित होता है । ज्ञान का स्वयं पर लौट जाना मनुष्य-चेतना की सबसे बड़ी क्रान्ति है । क्योंकि 'मैं ऐसा हूँ' इसका निर्णय करने के लिए अन्तः-करण कभी शान्त होकर अपने स्वरूप के सामने स्वयं को क्या रख पाता है । ऐसी क्रान्ति से ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और मानव-जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का रहस्य उसके सामने खुलता है ।

जैसे कोई आदमी गले में लटकी मोती की माला को भूल से न जानकर अपनी अज्ञानता के कारण समझता है कि किसी चोर ने उसे चुरा ली ॥ ८१ ॥

अगर कोई उसे गले में भूल जाय तो दूसरों के लाख समझाने के बावजूद जब तक उसे वह खुद देख नहीं लेता, उस पर भरोसा नहीं करता । उसी तरह हे मुनिपुत्र ! सूक्ष्म विचारक व्यक्ति भी अपनी आत्मा और आत्मा के स्वभाव के बारे में बारम्बार सुनने के बावजूद भी जब तक शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सामने नहीं होता तब तक उसे बाहर कहाँ और कैसे जान सकता है ? ॥ ८२–८४ ॥

जैसे चिराग चारों ओर हर चीज को दिखलाता है, किन्तु खुद कभी दूसरे चिराग

एवं च किं दीपमुखा अप्रकाश्यत्वहेतुतः ।
न सन्ति न प्रकाशन्ते इति वक्तुं हि युज्यते ॥ ८७ ॥
एवं प्रकाश्यभूतेषु सत्सु दीपमुखेषु वै ।
अत्यन्तमप्रकाश्यं यच्चित्तत्त्वं तत्कुतो वद ॥ ८८ ॥
असंवेद्यं प्रकाशेत चेत्यत्र विचिकित्सितम् ।
तस्मात्त्वमन्तर्मुखया दृष्ट्या सम्यग्विचारय ॥ ८९ ॥
चिच्छक्तिरेषा परमा त्रिपुरा सर्वसंश्रया ।
सर्वविभासिनी कुत्र कदा वा न प्रकाशते ॥ ९० ॥
यदा सा न प्रकाशेत प्रकाशेत तदा नु किम् ।
अप्रकाशेनापि सैव चितिशक्तिः प्रकाशते ॥ ९१ ॥
अप्रकाशो यया भाति सा न भायात्कथं वद ।
भाति चेत्सा कथं भाति विमृशैतत्सुसूक्ष्मतः ॥ ९२ ॥
अत्र सर्वे न पश्यन्ति कुशला अपि पण्डिताः ।
अनन्तर्दृष्टयस्तेन मोहिताः संसरन्ति च ॥ ९३ ॥
यावद् दृष्टिः प्रवृत्तिं तु न परित्यज्य तिष्ठति ।
तावदन्तर्दृष्टितापि न स्यादेव कथञ्चन ॥ ९४ ॥

के सहारे नहीं दीखता है। वह किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा किये बिना खुद ही प्रकाशित होता है, उससे खुद प्रकाश झरता है; इसी तरह सूर्योदय होने पर सब प्रकाशक रूप में ही दीखते हैं ॥ ८५–८६ ॥

ऐसी स्थिति में प्रकट नहीं करने योग्य होने के कारण क्या यह कहना ठीक है कि 'यह दिया है ही नहीं या जानते ही नहीं' ॥ ८७ ॥

इस तरह प्रकाशित होनेवाले दीपक आदि के बारे में यदि ऐसी बातें हैं तो जो कभी किसी से प्रकट होने योग्य नहीं है, उस चेतन तत्त्व के बारे में यदि यह कहा जाता है कि वह जानने योग्य नहीं है और वह प्रकट दीखती भी है तो इसमें सन्देह क्यों होता है ? अतः तुम इस पर भीतरी आँखों से जमकर विचार करो ॥८८–८९॥

वही चिन्मयी शक्ति महादेवी त्रिपुरा सबका आधार है। वही सबको प्रकाशित करनेवाली है। अतः वह कब और कहाँ प्रकाशित नहीं होती ? ॥ ९० ॥

उसके सिवा और कौन है जो प्रकाशित हो ? अप्रकाश रूप से भी वही चित्शक्ति प्रकाशित होती रहती है ॥ ९१ ॥

भला जिससे 'अप्रकाश' का बोध होता है, वह खुद क्यों नहीं दीखेगी ? और यदि दीखती है तो कैसे दिखलायी पड़ती है—इस पर गंभीरता से विचार करो ॥ ९२ ॥

बिना अन्तर्दृष्टि के सूक्ष्म विचारक भी इसे समझने में असमर्थ हैं। इसी वजह से मोहग्रस्त होकर संसारचक्र में पड़े रहते हैं ॥ ९३ ॥

जब तक बाहरी प्रवृत्ति से मुँह मोड़कर व्यक्ति स्थिर नहीं हो जाता, तब तक उसे अन्तर्दृष्टि नहीं मिल सकती है ॥ ९४ ॥

यावन्नान्तर्दृष्टिमेति तावत्तां न प्रपश्यति।
अन्तर्दृष्टिर्निरीहा स्यात् सेहायाः सा कथं भवेत् ॥ ९५ ॥
परिहृत्य तु तां सम्यक् स्वभावमुपसंश्रय।
क्षणं स्वभावमाश्रित्य निर्विमर्शस्ततः परम् ॥ ९६ ॥
विमृश्य स्मरणद्वारा ततो वेत्सि समस्तकम्।
असंवेद्यं सुवेद्यं च तदेवं तत्त्वमुच्यते ॥ ९७ ॥
विदित्वैवमवेद्यं च प्राप्नुयादमृतां स्थितिम्।
एतत्तेऽभिहितं सर्वं मुनिपुत्र नमोऽस्तु ते ॥ ९८ ॥
व्रजाम्यहं त्वया चैतन्न विज्ञातं सकृच्छ्रुतेः।
बोधयिष्यति त्वामेष राजा बुद्धिमतां वरः ॥ ९९ ॥
पृच्छ भूयः संशयं ते सर्वं छेत्स्यति वै नृपः।
इत्युक्त्वा पूजिता राज्ञा प्रणता च सभासदैः ॥ १०० ॥
वातनुन्नाभ्रलेखेव क्षणादन्तर्द्धिमाययौ।
एतत्तेऽभिहितं राम वेदनप्रक्रियात्मनः ॥ १०१ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टावक्रीये पञ्चदशोऽध्यायः।

बिना अन्तर्दृष्टि पाये उस परमशक्ति का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। अन्तर्दृष्टि तो संकल्पशून्यता है। जब तक किसी तरह की कामना मन में रहेगी, अन्तर्दृष्टि मिल ही नहीं सकती है ॥ ९५ ॥

अतः सबसे पहले तुम अपने संकल्पों का परित्याग कर दो। अपने स्वरूप का सहारा लो। मात्र एक पल अपने स्वरूप पर स्थिर रहकर फिर निश्चिन्त हो जाओ ॥ ९६ ॥

मात्र उस अवस्था के स्मरण से तुम्हें पता चल जायेगा कि 'वह तत्त्व अज्ञेय है और सुज्ञेय भी है'—ऐसा क्यों कहा जाता है ॥ ९७ ॥

इस तरह नहीं जानने योग्य उस तत्त्व को जानकर तुम अमृतस्थिति पा लोगे। मैंने तुम्हें इसका सारा रहस्य समझा दिया। मुनिपुत्र! तुम्हें नमस्कार है ॥ ९८ ॥

अब मैं चली। एक बार सुन लेने से ही तुम इसे जान नहीं सकोगे। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राजा जनक तुम्हें इसका बोध करा देंगे। तुम फिर इनसे पूछना। ये तुम्हारी सारी शंकाएँ मिटा देंगे ॥ ९९½ ॥

इतना बोलकर वह उठ गई। राजा ने उसकी पूजा की तथा सभासदों ने प्रणाम। फिर हवा की तरह वह हिली और मेघमाला की तरह गायब हो गई। परशुराम! मैंने तुम्हें यह आत्मज्ञान की प्रक्रिया समझा दी ॥ १००–१०१ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

श्रुत्वैतद्भार्गवो रामः प्राप्य विस्मयमान्तरे।
भूयः पप्रच्छाऽत्रिसूनुमवितृप्तः कथाश्रुतेः ॥ १ ॥
भगवन्नद्भुतं ह्येतच्छ्रुतं वृत्तं पुरातनम्।
भूयः पप्रच्छ राजानमष्टावक्रो महामुनिः ॥ २ ॥
यद्राजा प्रत्युवाचैनं तच्च मे वद सर्वशः।
अहोऽद्भुतं समाख्यानं न क्वचिच्च मया श्रुतम् ॥ ३ ॥
विज्ञानवृत्तसर्वस्वं दयया वद मे गुरो।
इत्येवमनुयुक्तोऽथ दत्तात्रेयो महामुनिः ॥ ४ ॥
भार्गवाय समाचख्यौ कथां परमपावनीम्।
शृणु भार्गव यत् प्रोक्तं जनकेन महात्मना ॥ ५ ॥
निर्गतायां तु तापस्यामष्टावक्रो मुने सुतः।
संवृतो बहुभिर्विप्रैः समेत्य नृपपुङ्गवम् ॥ ६ ॥
पप्रच्छ यत्तु तापस्या सङ्क्षिप्योक्तं महार्थकम्।
तदुच्यमानन्तु मया सम्यक् शृणु समाहितः ॥ ७ ॥
राजन् विदेहाधिपते तापस्योक्तं तु यत्तया।
तदहं नाऽविदं सम्यक् सङ्क्षेपोक्तत्वहेतुतः ॥ ८ ॥

(जनक और अष्टावक्र का संवाद)

इन सारी बातों को सुनकर परशुरामजी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। इतना सुनकर वे संतुष्ट नहीं हुए। अतः मुनिपुत्र गुरु दत्तात्रेय से उन्होंने फिर पूछा ॥ १ ॥

श्रीमान् ! यह तो मैंने बड़ा ही अनोखा पुराना इतिहास सुना। कृपया अब आप मुझे पूरा प्रसङ्ग सुना दें। मुनि अष्टावक्र ने राजा जनक से क्या पूछा और उन्होंने उसका क्या उत्तर दिया ? यह तो बड़ी ही अनूठी कहानी है। ऐसा तो मैंने कभी सुना ही नहीं ॥ २–३ ॥

हे गुरुदेव ! मुझ पर दया कीजिए, यह वैज्ञानिक रहस्य खोलकर मुझे समझा दीजिए। ऐसा पूछने पर गुरु दत्तात्रेय ने परशुराम को यह पवित्र कहानी सुनाना शुरू किया – सुनो परशुराम ! 'जनकजी ने जो कुछ सुनाया वह ऐसा है' ॥ ४–५ ॥

सभा से उस ब्रह्मचारिणी के जाने के बाद अनेक ब्राह्मणों को साथ लेकर मुनि अष्टावक्र राजा जनक के पास पहुँचे। उस तापसी ने परम पुरुषार्थ के सन्दर्भ में जो कुछ संक्षेप में कहा था, उसी के बारे में इसने ज्ञानी जनक से पूछा। वही प्रसङ्ग मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तुम एकाग्रचित्त से सावधान होकर सुनो ॥ ६–७ ॥

हे विदेहराज ! सभा में उस तापसी ने जो कुछ कहा था, अति संक्षिप्त होने के

कथं विद्यामवेद्य तत् समाचक्ष्व दयानिधे।
एवं जनक आपृष्टः प्राह तं विस्मयन्निव ॥ ९ ॥
मुनिपुत्र शृणु वचो मया यत् प्रोच्यतेऽधुना।
नाऽवेद्य सर्वथा तद्धि वेद्यञ्चापि न सर्वथा ॥ १० ॥
अवेद्य चेत् सर्वथैव तद् गुरुः किं वदेद्वद।
गुरुरावेदयेतत्त्वमत आदौ गुरु श्रयेत् ॥ ११ ॥
एतद्वेदनमत्यन्तं सुलभं दुःशकं च हि।
यः परावृत्तदृष्टिः स्यात्तस्य तत् सुलभं भवेत् ॥ १२ ॥
यः पराग्दृष्टिरेवास्ते तस्य तच्चातिदुर्लभम्।
अनिरूप्यं केवलं तदवेद्यमपि सर्वथा ॥ १३ ॥
कथञ्चिदन्यरूपेण निरूप्यं वेद्यमप्युत।
यद्यद् दृश्यं पश्यसीह तेन तद्वेद्यमुच्यते ॥ १४ ॥
यत्तेऽवभासते किञ्चित् तद्विभावय सद्धिया।
भानशक्तिर्भास्यहीना सर्वभानसमाश्रया ॥ १५ ॥

कारण वह ठीक ढंग से मेरी समझ में नहीं आया। हे कृपालु! यह तथ्य आप मुझे समझा दें ताकि मैं उस अज्ञेय तत्त्व को सही ढंग से जान सकूँ। इस तरह पूछे जाने पर चकित होकर राजा जनक ने कहा—॥ ८–९ ॥

मुनिपुत्र! अब मैं जो बतलाता हूँ, उसे समझो। वह परमपद न तो सर्वथा अज्ञेय है और न इतना हलका कि आसानी से सब उसे समझ लें ॥ १० ॥

यदि वह बिलकुल जानने योग्य होता ही नहीं तो गुरुदेव भला उसके बारे में क्या बतलाते। इस रहस्य का ज्ञान तो गुरु से ही मिलता है। अतः सबसे पहले उनकी ही शरण में जाओ ॥ ११ ॥

उस पद को जानना बिलकुल सरल भी है और बड़ा कठिन भी। जिसकी आँखें बाहर से लौटकर अन्तर्मुख हो गई, उसके लिए यह बिलकुल सरल है। जिसकी दृष्टि बहिर्मुख है उसके लिए यह जानना बड़ा कठिन है ॥ १२½ ॥

वास्तव में वह पद बिलकुल अनिवर्चनीय और अज्ञेय भी है। फिर भी दूसरे ढंग से उसका निरूपण भी किया जाता है और उसे जाना भी जा सकता है ॥ १३½ ॥

यहाँ तुम जिन वस्तुओं को देखते हो, उसी दृश्य से वह वस्तु जानने या समझने योग्य बन जाती है। तुम्हें जो कुछ भी दीखता है उस पर पवित्र बुद्धि से विचार करो। जो दीखनेवाली वस्तु को छोड़कर आभास होने की शक्ति है, वही सारे बोध का सहारा है ॥ १४–१५ ॥

विशेष—वस्तुतः स्वयं से बाहर जो देखा जा सकता है वह स्वरूप कभी नहीं हो सकता। अतः उस परमपद की खोज स्वयं से बाहर नहीं हो सकती है; क्योंकि जो ज्ञान या दृश्य स्वरूप नहीं है, वह न तो ज्ञान है और न स्वरूप ही।

सैव तत्त्वमित्येव विजानीहि मुनेः सुत ।
वेद्यमेव न वित्तिः स्यात् स्वतो यत्र प्रकाशते ॥ १६ ॥
वित्तिरन्या यया वेद्यं वेद्यते न स्वतः क्वचित् ।
वेद्यं विभिन्नरूपं वै वित्त्यैव वेद्यते खलु ॥ १७ ॥
तत्तद्रूपविभेदेन वित्तिर्नो भिद्यते क्वचित् ।
भेदो हि वेद्यधर्मः स्यान्न वित्ति संस्पृशेत् क्वचित् ॥ १८ ॥
यत आकारभेदो हि वेद्यपक्षे विभासते ।
पश्य वेद्यं पृथक्कृत्य बुद्ध्याकारविवर्जितम् ॥ १९ ॥

दृश्य रूप में जो घड़े या कपड़े का ज्ञान होता है, उन घड़े या कपड़े के ज्ञान में घड़े या कपड़े तो ज्ञेय हैं और उन सबमें जो नियमित तथा निर्बाध रूप से मिला हुआ ज्ञान सामान्य है; वही वास्तव में परतत्त्व है । श्रुति ने इसे ही 'प्रतिबोधविदितं मतम्' कहकर निरूपण किया है ।

अतः हमें जो ज्ञात है, वह अज्ञात में नहीं ले जा सकता है । सत्यस्वरूप अगर अज्ञात है तो कोई ज्ञात विचार या दृश्य विषय वहाँ तक न पहुँचने की सीढ़ियाँ नहीं बन सकते । उन्हें छोड़कर ही सत्य में प्रवेश होता है । निर्विचार चैतन्य के आकाश में ही सत्य के सूर्य के दर्शन होते हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य-चित्त ऐन्द्रिक अनुभवों को संग्रहीत करता रहता है । उनके ये सारे अनुभव बाहरी जगत् के होते हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ केवल उसे ही जानने में समर्थ होती हैं, जो बाहर हैं । स्वयं के भीतर जो है, वहाँ तक इन्द्रियों की कोई पहुँच नहीं हैं । इन बाहरी अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जन्मदात्री हैं । इसीलिए विचार विज्ञान की खोज में तो सहयोगी हो सकता है, किन्तु इस परम पद के अनुसन्धान में नहीं । स्वयं के आन्तरिक केन्द्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो इन्द्रियों के पार्श्व में ही सदा है । अतः इसे जानना जितना ही सरल है उतना ही कठिन भी ।

मुनिपुत्र ! यही परमतत्त्व है, इसे ही पहचानो । जो पदार्थ ज्ञेय है, वही ज्ञान नहीं हो सकता । क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

ज्ञान अर्थात् वस्तुओं और विषयों की जानकारी से ज्ञेय अर्थात् वस्तु या विषय जो जाना जा सके अलग है । ज्ञेय स्वतः कभी नहीं जाना जाता । उसके अनेक रूप होते हैं । वे तो किसी-न-किसी जानकारी से ही जाना जा सकता है ॥ १७ ॥

ज्ञेय पदार्थों की अनेकरूपता से उसकी जानकारी में कभी कोई भेद नहीं होता । भेद तो ज्ञेय पदार्थों का ही धर्म है, वह ज्ञान को कभी नहीं छूता है ॥ १८ ॥

क्योंकि बनावट का भेद तो जानने या समझने योग्य पदार्थों में ही दीख पड़ता है । अतः तुम इस जानने योग्य पदार्थों को अलग हटाकर शुद्ध बुद्धि से स्वरूपशून्य ज्ञान का साक्षात्कार कर लो ॥ १९ ॥

बिम्बानुकृतिरादर्शो यद्वत्तद्वदियं चितिः ।
दृश्याकारधृतेर्नानारूपतां प्रतिपद्यते ॥ २० ॥
एवं वित्तिरियं वेद्या वेद्यव्यावृत्तरूपतः ।
न तु स्वभावतो वेद्या सा वित्तिर्विश्वसंश्रया ॥ २१ ॥
यत एतद्वेदितुः स्याद्रूपं तस्मान्न वेद्यते ।
विमृशाऽष्टावक्र रूपं निजमेवंविधं स्फुटम् ॥ २२ ॥
न त्वं शरीरं प्राणो वा मनो वाऽप्यस्थिरत्वतः ।
शरीरं धातुनिकरं तत्ते रूपं कथं भवेत् ॥ २३ ॥
तच्चाऽन्यविषयाभासे त्वहंधियमतिव्रजेत् ।
एवं प्राणो मनोऽपि स्यादहंबुद्धिव्यतिक्रमात् ॥ २४ ॥
अहंबुद्धिं न व्यतीत्य तिष्ठत्येषा परा चितिः ।
तस्माच्चितिः सर्ववेत्री त्वमष्टावक्र तत्त्वतः ॥ २५ ॥

जैसे आईना परछाई के रूप को कबूल कर लेता है, उसी तरह यह शुद्ध चेतन दृश्य के स्वरूपों को स्वीकार कर अनेकरूपता को पा लेता है ॥ २० ॥

इस तरह इन ज्ञेय पदार्थों को अलग हटाकर इस चेतनतत्त्व को जाना जा सकता है। समस्त दुनिया का आधार यह चेतन स्वभाव से ज्ञेय नहीं है ॥ २१ ॥

क्योंकि यह चेतन ज्ञाता का स्वरूप है, इसलिए यह ज्ञान का विषय कभी हो ही नहीं सकता। अष्टावक्र ! तुम अपने ऐसे स्वरूप पर स्पष्ट रूप से विचार करो ॥ २२ ॥

न तुम देह हो, न प्राण हो और न मन ही हो, क्योंकि ये सब अस्थिर हैं। देह तो वात, पित्त और कफ का समूह है। यह तुम्हारा स्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥२३॥

इसके सिवा जब किसी अन्य पदार्थ का बोध होता है तब देह में अहंबुद्धि नहीं रहती। इसी तरह अहंबुद्धि शून्य होने के कारण प्राण और मन भी आत्मा नहीं है ॥ २४ ॥

विशेष – आत्मा हमेशा अहं रूप से स्फुरित होती है। देहादि के साथ ऐसी बात नहीं है। जब घटपटादि अन्य पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं तो फिर देह अहं रूप से नहीं दीख पड़ती है। यदि उस समय भी वे अहं रूप से दीखते तो उनके ज्ञानकाल में हमें ऐसा भी बोध अवश्य होता कि मैं गोरा, लम्बा या काला हूँ। किन्तु ठीक उस समय कुछ ऐसा बोध नहीं होता। जैसे रूप की प्रतीति के समय आँखों का और शब्द की प्रतीति के समय कानों का अनुसन्धान नहीं होता, इसी तरह घटपटादि का बोध होते समय देह का अनुसन्धान नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जब देह का अन्य अर्थात् दृश्य रूप से बोध होता है तब ये 'मैं' रूप से नहीं दीखते अपितु 'मेरे' रूप में ही प्रतीत होते हैं। अतः अहं बुद्धि से रहित होने के कारण ये आत्मा नहीं है।

पश्य प्रत्यावृत्तचक्षुः स्वात्मानं केवलं चितिम् ।
आदेशकाल एव स्वं पश्यन्त्युत्तमबुद्धयः ॥ २६ ॥
चक्षुर्नेतद्गोलकं ते मनश्चक्षुरुदाहृतम् ।
येन पश्यसि स्वप्नेषु तच्चक्षुर्मुख्यमुच्यते ॥ २७ ॥

यह पराचिति किसी भी समय 'अहंबुद्धि' को छोड़कर अलग नहीं रहती। इसलिए यह सब को जाननेवाली है। तुम आँखों को अन्तर्मुख करके तत्त्वतः अपने-आप को शुद्धचिति के रूप में ही देखो। उत्कृष्ट बुद्धिवाले जिज्ञासु उपदेश के समय ही अपने आपको पहचान लेते हैं ॥ २५–२६ ॥

विशेष—यहाँ एक सन्देह यह हो सकता है कि सुषुप्ति और समाधि के समय तो चेतन में अहंबुद्धि नहीं देखी जाती है। यहाँ पहले यह देखना चाहिए कि सबसे पहले ज्ञेय से ज्ञान को मुक्त करना है। उस खूंटी से मुक्त होकर ही उसको स्वयं में स्थिरता और प्रतिष्ठा मिल सकती है। इस मुक्ति का उपाय समाधि है। सुषुप्ति में भी मुक्ति होती है, किन्तु यह तो एक मूर्च्छित अवस्था है। सुषुप्ति में मन स्वयं में लीन हो जाता है। यह स्थिति उसका अपना स्वरूप है। इसी से ही कहते हैं 'स्वपिति' अर्थात् सोता है। स्व का अर्थ है अपने-आप और 'अपीति' का अर्थ है 'प्रवेश कर जाना'। अपने-आप में प्रवेश कर जाना ही 'सुषुप्ति' है। समाधि और सुषुप्ति में एक बात को छोड़कर बिलकुल समानता है। सुषुप्ति अचेतन और मूर्च्छित अवस्था है, समाधि पूर्ण चेतन और अप्रकट। इसीलिए सुषुप्ति में हम जगत् के साथ एक हो गये मालूम होते हैं और समाधि में परम चेतना के साथ।

कुछ विचारकों की दृष्टि में अहंबुद्धि सविकल्प और निर्विकल्प रूप से दो प्रकार की होती है। जाग्रत् और स्वप्न में भेद का भान होने के कारण वह सविकल्प रहती है तथा सुषुप्ति और समाधि के समय भेद का भान न होने से निर्विकल्प। यदि उस समय भी सविकल्प अहं स्फूर्ति होती तो त्रिपुटी का लय नहीं हो सकता था। शास्त्रों में उसे पूर्णाहन्ता कहा गया है। यदि उन अवस्थाओं में अहन्ता का सर्वथा अभाव हो जाता तो 'मैं सुख से सोया', 'मैं समाधिस्थ रहा' इस प्रकार अहन्ता के उल्लेखपूर्वक याद नहीं हो सकती थी। अतः उन अवस्थाओं में भी अहन्ता रहती ही है।

वस्तुतः समाधि सुषुप्ति है ही नहीं। अनेक मनस्तत्त्ववेत्ताओं का ख्याल है कि चेतना जब निर्विकल्प होगी तो निद्रा आ जायेगी। यह भ्रान्ति बिना प्रयोग किये सोचने से पैदा हुई है। चेतना सो जाय तो निर्विषय हो जाती है। लेकिन इससे यह फलित नहीं होता है कि वह निर्विषय होगी तो सो जायेगी। उसे निर्विकल्प बनाना ही इतने श्रम और सचेष्ट जागरूकता से होता है कि उसकी उपलब्धि पर सो जाना असंभव है। उसकी उपलब्धि पर तो शुद्धबुद्धता ही शेष रह जाती है। ऐसी क्रान्ति तो समाधि में ही होती है।

यहाँ 'आँख' कहने का तात्पर्य इन चर्मचक्षुपिण्डों से नहीं बल्कि मन की आँखों

तस्य प्रत्यावृत्तिरपि प्रोच्यते शृणु भूसुर।
अप्रत्यावृत्तचक्षुर्वै नैव पश्यति किञ्चन ॥ २८ ॥
दिदृक्षुश्चक्षुषा किञ्चित् तदन्येभ्यो ह्यशेषतः।
प्रत्यावृत्य दृढं तस्मिन्नेव सयोजयेद्यदि ॥ २९ ॥
तदा तद्भासते स्पष्टं नान्यदा तु कदाचन।
अन्यदा तु पुरोवृत्ति न स्पष्ट भासते क्वचित् ॥ ३० ॥
आभातकल्पमेव स्यादप्रत्यावृत्तचक्षुषा।
एवं श्रोत्रत्वगादीनां भूदेवाऽवेहि संस्थितिम् ॥ ३१ ॥
मनसाऽप्येवमेव स्यात् सुखदुःखाऽवभासनम्।
अप्रत्यावृत्तमनसा किंस्विद्वेदितुमर्हति ॥ ३२ ॥
तस्मात्तदेकपरता प्रत्यावृत्तिश्च चक्षुषः।
प्रत्यावृत्तं मनः शुद्धं निजरूपावभासकम् ॥ ३३ ॥
अत्र ते सम्प्रवक्ष्यामि शृणु तन्नियताऽन्तरः।
अगोचरश्चेदात्माऽसौ मनसा गोचरोऽपि च ॥ ३४ ॥

के लिए कहा गया है। जिन आँखों से आदमी सपने में भी देखता है, वही आँखें असली आँखें हैं ॥ २७ ॥

मन की उन आँखों को बाहर से मोड़कर भीतर की ओर उलटना क्या है ? यह भी बतलाया जाता है। क्योंकि उसे बिना भीतर की ओर मोड़े कोई कुछ भी नहीं देख सकता ॥ २८ ॥

जो आदमी आँखों से कुछ देखना चाहता है वह अपनी आँखों को हर ओर से हटा कर जिसे देखना चाहता है उस पर टिका देता है, तो वह वस्तु उसे साफ दीखने लगती है, अन्यथा नहीं। ऐसा नहीं होने पर तो कभी-कभी सामने रखी हुई वस्तु भी उसे साफ नहीं दिखलाई देती है ॥ २९–३० ॥

जो आँखें किसी वस्तु पर केन्द्रित नहीं होती, वह वस्तु देखने के बावजूद भी अनदेखी रह जाती है। ब्राह्मणदेवता ! ऐसी ही बातें नाक, कान, त्वग् प्रभृति अन्य इन्द्रियों के विषय में भी जाननी चाहिए ॥ ३१ ॥

मन से सुख और दुःख की अनुभूति भी इसी तरह होती है। जिसका मन विषय-विमुक्त नहीं है, भला वह क्या जान सकता है ? ॥ ३२ ॥

अतः एकमात्र अपने लक्ष्य पर आँख रखना ही आँखों का बाहर से हटकर भीतर लीन हो जाना है। अन्तर्मुख विशुद्ध मन ही अपने असली रूप को पहचान सकता है ॥ ३३ ॥

अब जो कुछ तुम्हें बतलाता हूँ उसे स्थिर मन से सुनो। यह आत्मा मन से ग्राह्य भी है और अग्राह्य भी है ॥ ३४ ॥

अत्र मुह्यन्ति बहवः श्रुत्यागमविवेचकाः ।
मनोगोचरता बाह्ये द्विप्रकारेण संस्थिता ॥ ३५ ॥
आद्याऽन्येभ्यः परावृत्तिः परा तत्परता भवेत् ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेऽपि मनसः सति ॥ ३६ ॥
न किञ्चिद्भासयेद्वस्तु तटस्थाऽवसरेषु तत् ।
तस्मात्तत्परताऽप्यत्र व्यापारो मानसः परः ॥ ३७ ॥
एवं व्यावृत्तभावानां व्यापारद्वयभासनम् ।
अव्यावृत्ता चितिर्यस्मात्तस्मान्नात्र तथा भवेत् ॥ ३८ ॥
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेणैवाऽवभासयेत् ।
यथा पुरःस्थितादर्शे किञ्चिद्दर्शनहेतवे ॥ ३९ ॥
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिराभिमुख्यञ्च तस्य वै ।
अपेक्ष्यते दर्पणस्य प्रतिबिम्बदिदृक्षुणा ॥ ४० ॥
गगनं दर्पणे द्रष्टुं यदा समभिवाञ्छति ।
तदाऽन्येभ्यः परावृत्तिमात्रेण हि कृतार्थता ॥ ४१ ॥
गगनं सर्वतो व्याप्तं दर्पणे सर्वदा स्थितम् ।
अव्यावृत्तं किन्तु चाऽन्यैरभिच्छन्नं न भासते ॥ ४२ ॥
सर्वाश्रयं सर्वगतमपि तैश्छादितं यतः ।
अतस्तेभ्यः परावृत्तिमात्रेणैव विभासते ॥ ४३ ॥

वेदशास्त्रों के अनेक पर्यालोचक भी आत्मा के बारे में मोहग्रस्त ही रहते हैं । बाहरी पदार्थों में मन की पकड़ दो तरह की होती है ॥ ३५ ॥

पहली —दुनियादारी से मनको मोड़ना तथा दूसरी अन्तरात्मा से उसे जोड़ना । बाहरी दुनिया से सिर्फ मन के हट जाने पर भी निरपेक्षता की स्थिति में भी कुछ नहीं दीखता है, अतः मन का अन्तरात्मा से जुटना भी आवश्यक व्यापार है ॥३६-३७॥

इस तरह जो अलग हटाये गये पदार्थ हैं, उनका ज्ञान तो बतलाये गये दोनों कार्यों से होता है । किन्तु चिति तो अवियुक्त है, अतः इसके अनुभव के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है ॥ ३८ ॥

आईने की परछाई में यदि कोई किसी वस्तु को देखना चाहता हो तो आईने और परछाई के बीच का व्यवधान हटाते ही वह परछाई साफ-साफ झलकने लगती है । ठीक उसी तरह दुनियादारी से मन के हटते ही वह झलकने लगती है ॥३९-४०॥

पर यदि आईने में आसमान देखने की इच्छा हो तो दूसरी चीजों के सामने से आइने को हटा लेने से ही काम बन जायेगा ॥ ४१ ॥

आकाश तो हर जगह है, वह तो आईने में भी मौजूद है । किन्तु दूसरी चीजों को उसके सामने से बिना हटाये, क्योंकि दूसरी वस्तु की परछाई से ढके रहने की वजह से वह नहीं दिखलाई पड़ता है ॥ ४२ ॥

एवं चितिः सर्वगता सर्वाश्रयतया स्थिता ।
सर्वकाले समापूर्णा मनसि व्योमवद् द्विज ॥ ४४ ॥
तस्मादन्यपरावृत्तिमात्रं मनस इष्यते ।
पश्य विप्र चितिः कुत्र कदा नास्त्यवभासिनी ॥ ४५ ॥
यदा यत्र च सा नास्ति न यदा नापि यत्र च ।
तस्माच्चिदात्मावभासे मनसोऽन्यपरावृतिः ॥ ४६ ॥
केवलाऽपेक्षिता नैवाभिमुख्यं नूतनं क्वचित् ।
आभिमुख्याभावहेतोरेवाऽवेद्यत्वमिष्यते ॥ ४७ ॥
अत एव शुद्धमनोवेद्यं तत्तत्त्वमुच्यते ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिरेव शुद्धिर्हि मानसी ॥ ४८ ॥
एतदेव परं तत्त्वज्ञाने साधनमुच्यते ।
यावन्न हि मनः शुद्धं तावज्ज्ञानं कथं भवेत् ॥ ४९ ॥
शुद्धे मनसि वै ज्ञानं कथं वा न भवेद् ध्रुवम् ।
उपक्षीणं सर्वमत्र साधनं तस्य शोधने ॥ ५० ॥
कर्म वोपासनं वाऽपि वैराग्यादिकमेव वा ।
मनसः शोधने एव विनियुक्तं न चाऽन्यथा ॥ ५१ ॥

वह सबका आधार है । हर जगह मौजूद है । दुनियादारी से ढकी है । इसे हटाते ही वह झलकने लगती है ॥ ४३ ॥

इसी तरह चिति भी सबका सहारा है, सब जगह मौजूद है । ब्राह्मणदेवता ! वह इसी आकाश की तरह सबके मनमें बसी है ॥ ४४ ॥

इसलिए आत्मसाक्षात्कार के लिए मन को हर ओर से मोड़ लेने की आवश्यकता है । विप्रवर ! जरा सोचो, सबको प्रकाशित करनेवाली चिति कब और कहाँ नहीं है ? ॥ ४५ ॥

वह जब और जहाँ नही है तब वह जब और जहाँ प्रमाणित भी नहीं हो सकती । अतः चेतन आत्मा का ज्ञान होने के लिए केवल अनात्म पदार्थों के वर्जन की अपेक्षा है, न कि कोई नई वस्तु सामने लाने की ॥ ४६½ ॥

किसी के सामने साफ-साफ दिखलाई न देने की वजह से ही उसे समझ से परे कहा जाता है । इसीलिए वह तत्त्व शुद्ध मन से जानने योग्य कहा गया है । दुनियादारी से मन का हट जाना ही मन की शुद्धता या पवित्रता है । पवित्र मन ही परम तत्त्व की जानकारी का प्रमुख साधन है ॥ ४७–४८½ ॥

मन की शुद्धि के बिना ज्ञानार्जन असंभव है । यदि मन शुद्ध है तो ज्ञान की उपलब्धि निश्चित रूप से क्यों न होगी ? मन की शुद्धि होते ही अन्य साधनों की अपेक्षा समाप्त हो जाती है ॥ ४९–५० ॥

तस्माच्छुद्धेन मनसा भासते तत् परं वपुः ।
इति राज्ञेरितं श्रुत्वा त्वष्टावक्रः पुनर्जगौ ॥ ५२ ॥
राजंस्त्वयोक्तमन्येभ्यः परावृत्तिर्हि मानसी ।
केवला चेत् सा परा चिन्मनसा प्रविभासते ॥ ५३ ॥
तत् सुषुप्तौ विभासेत परावृत्तं मनस्तदा ।
तत्र किं साधनैरन्यैः सुप्तिमात्रात् कृतार्थता ॥ ५४ ॥
इति पर्यनुयुक्तोऽथ विप्रेणोवाच भूपतिः ।
समाहितः श्रृणु ब्रह्मन् समाधानं वदामि ते ॥ ५५ ॥
सत्यं सुषुप्तौ मनसः परावृत्तिस्तु सर्वथा ।
लीनं मनस्त्वच्छाप्यस्य कथं तामवभासयेत् ॥ ५६ ॥
कज्जलेन समालिप्ते दर्पणे गगनं न हि ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेण भासते क्वचित् ॥ ५७ ॥

कर्म, उपासना और वैराग्य प्रभृति का उपयोग भी तो मन की शुद्धि के लिए ही है, अन्यथा इसका कोई दूसरा उपयोग तो है ही नहीं ॥ ५१ ॥

'इस परमात्मा की प्रतीति तो शुद्ध मन से ही संभव है ।' राजा जनक की यह बात सुनकर अष्टावक्र ने उनसे फिर पूछा ॥ ५२ ॥

राजन् ! आपने अभी कहा है कि मन यदि बाहरी पदार्थों से सिर्फ हट जाय तो वह शुद्ध हो जाता है और शुद्ध मन से परम चेतन की अनुभूति होती है ॥ ५३ ॥

तब तो गहरी नींद में उस परम तत्त्व का बोध होना चाहिए । क्योंकि नींद में मन स्वतः विषयों से विमुख रहता है । फिर दूसरे साधन की आवश्यकता ही क्यों है ? सुषुप्ति से ही तो काम चल जायेगा ॥ ५४ ॥

अष्टावक्र के प्रश्न का जवाब देते हुए राजा जनक ने कहा—ब्राह्मणदेवता ! मैं आपकी शंका का समाधान करता हूँ । आप ध्यान लगाकर सुनें ॥ ५५ ॥

यह तो आपने ठीक ही कहा—गाढी नींद में मन विषयों से बिलकुल विमुख हो जाता है । पर फिर मन का अपना स्वरूप भी तो नींद में ही डूब जाता है, फिर परम तत्त्व का बोध किसे होगा ? ॥ ५६ ॥

विशेष—धरती, आकाश, वायु, जल और आग—इन पाँचभौतिक तत्त्वों के सात्त्विक अंश का परिणाम यह मन है । यही कारण है कि हर विषय का बोध इस मन से होता है । क्योंकि ज्ञान सत्त्वगुण का धर्म कहा गया है । गाढी नींद में तमोगुण से सब गुण ढँक जाता है । अतः इसका बोध नहीं होता । जैसे अँधेरे से ढके रहने के कारण आईने में कोई परछाई नहीं दीखती है, उसी तरह नींद में तमोगुण से ढके रहने के कारण मन में न तो विषय का बोध होता है और न शुद्ध चेतन ही ।

यदि आईने पर काजल पोत दिया जाय तो कोई परछाई तो बनेगी ही नहीं, आकाश का बोध भी नहीं हो सकता है ॥ ५७ ॥

एवं निलिप्ते मनसि निद्रयाऽन्यपरावृतेः ।
अयोग्यत्वादेव मनो भासयेन्न चितिं क्वचित् ॥ ५८ ॥
अन्यथा लोष्टकुड्यादेरपि भायात् कुतो न सा ।
तस्माद्योग्येन मनसा शुद्धेन भासते हि सा ॥ ५९ ॥
अतः सद्योजातशिशोर्भासते न हि किञ्चन ।
अथाऽपि शृणु वक्ष्यामि मषीलिप्ते हि दर्पणे ॥ ६० ॥
अलक्षितं चाऽपि मषीप्रतिबिम्बनमस्ति वै ।
संश्लेषान्न विलक्ष्येत स्वभावस्याऽनपोहनात् ॥ ६१ ॥
तथा मनः सुषुप्तिस्थं संश्लिष्टं निद्रयैव हि ।
अतोऽन्येभ्यः परावृत्तेरभावाद्भासयेन्न ताम् ॥ ६२ ॥
अतो निद्रास्मृतिरपि व्युत्थितस्य हि सम्भवेत् ।
मूढताऽपि च या तस्यां दशायामनुभूयते ॥ ६३ ॥
तत्ते सम्यक् प्रवक्ष्यामि शृणु सम्यक् समाहितः ।
मनसस्तु द्विधाऽवस्था प्रकाशामर्शभेदतः ॥ ६४ ॥
बहिरर्थेषु विश्रान्तिर्या प्रकाशः स उच्यते ।
यस्तद्विचारः स्वस्मिन् वै स विमर्श उदाहृतः ॥ ६५ ॥

इस तरह मन पर नींद का लेप चढ़ जाने से दूसरी वस्तुओं से उसकी विमुखता तो होती है । प्रकाशन की क्षमता नष्ट हो जाने के कारण वह चिति को भी प्रकाशित नहीं कर पाता है ॥ ५८ ॥

यदि ऐसा नहीं होता तो ढेले और भीत को भी इस चिति का बोध क्यों नहीं होता ? अतः योग्य और शुद्ध मन से ही उसका ज्ञान संभव है, अन्यथा नहीं ॥ ५९ ॥

इसी से तत्काल पैदा हुए बच्चे को भी कुछ नहीं दीखता । फिर भी एक बात बतलाता हूँ, इसे सुनो और समझो । काजल पुते आइने में भी काजल की परछाईं तो रहती ही है, भले ही वह दिखलाई न दे । क्योंकि जो जिसका गुणधर्म है, उससे उसे छुटकारा तो मिलता ही नहीं है । भले ही काजल के संसर्ग से वह दीख नहीं पड़ता ॥ ६०–६१ ॥

इस तरह गाढ़ी नींद में मन नींद से ही जुड़ा रहता है । अतः नींद से उसका लगाव तो हटता नहीं । इसी से नींद में वह चिति को प्रकाशित नहीं कर पाता है ॥ ६२ ॥

यही कारण है कि जगे हुए आदमी को नींद की याद आती है और उस अवस्था में जिसका अनुभव होता है, उस मूर्खता की भी याद आती है ॥ ६३ ॥

अब मैं तुम्हें साफ-साफ समझाता हूँ, सावधान होकर सुनो । मन की दो अवस्थाएँ होती है — (१) प्रकाशावस्था और (२) विमर्शावस्था ॥ ६४ ॥

दुनिया की हवा से मन का बिल्कुल हट जाना उसकी प्रकाशावस्था है और दुनियादारी का अनुचिन्तन मन की विमर्शावस्था है ॥ ६५ ॥

प्रकाशो निर्विकल्पः स्याद् वस्तूनामविभेदतः ।
विमर्शः शब्दसम्भेदाद्विभेदात् सविकल्पकः ॥ ६६ ॥
अयमेवंविध इति शब्दसम्भेदवर्जितः ।
वस्तुदर्शनरूपोऽसौ प्रकाशो निर्विकल्पकः ॥ ६७ ॥
अयमेवंविध इति वस्तुदर्शनमूलकः ।
शब्दसम्भिन्नरूपोऽसौ विचारात्माऽवभासनः ॥ ६८ ॥
आन्तरोऽभिनवोऽन्यो वा विमर्श इति कीर्त्तितः ।
तत्र योऽभिनवाऽऽभासः स प्रोक्तोऽनुभवात्मकः ॥ ६९ ॥
अन्यस्मृत्यनुसन्धानात्मकः संस्कारसम्भवः ।
एवं मनो द्विप्रकारशक्तियुक्तं सदा स्थितम् ॥ ७० ॥
निद्रा प्रकाशरूपाऽसौ सुषुप्तिश्चिरसंस्थिता ।
जागरामर्शबहुला चेत्यमूढदशोच्यते ॥ ७१ ॥
प्रकाशनिबिडा यस्मात् सुषुप्तिर्मूढतात्मिका ।
अत एव हि दीपादेः प्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७२ ॥
निश्चिता मूढता सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वथा ।

प्रकाश की अवस्था निर्विकल्प होती है, क्योंकि यह अवस्था परिवर्तन या प्रभेदों से रहित निरपेक्ष होती है। इससे भिन्न विमर्शावस्था सविकल्प होती है, क्योंकि इसमें वस्तुओं का भेद होने की वजह से शब्दों का भी विभेद होता है ॥ ६६ ॥

'यह ऐसा है' इस तरह के शब्दों के भेद से रहित और वस्तुपरक तत्त्वों को दिखलाने वाली यह प्रकाशावस्था निर्विकल्प होती है ॥ ६७ ॥

जिसके मूल में वस्तुतत्त्व को दिखलाना है और 'यह ऐसा है' इस तरह के शब्द-भेदमय विचाररूप से जो प्रतीत होती है, वह सविकल्पावस्था है ॥ ६८ ॥

विमर्शावस्था आन्तर होती है। अर्थात् मन पर जो बाहरी पदार्थों की परछाईं पड़ती है, उसे ही अपना आधार बनाकर चलती हैं। यह आन्तर अभिनव और अन्य रूप से दो तरह का होता है। इनमें जो अभिनव आभास है, वह प्रत्यक्ष अनुभव रूप कहा गया है ॥ ६९ ॥

अन्य को 'स्मृति' कहा जाता है। यह अनुसंधानात्मक है। पहले अनुभूत वस्तु-जन्य संस्कार से यह होता है। इस तरह इन दो तरहों की शक्तियों से मन सदैव घिरा रहता है ॥ ७० ॥

यह गाढ़ी नींद की प्रकाशावस्था निर्विकल्प ज्ञानरूप होती है तथा बहुत समय तक रहती है और जाग्रत् अवस्था में विमर्श अर्थात् सविकल्प ज्ञान की अधिकता रहती है। इसीलिए इसे अमूढावस्था भी कहा गया है ॥ ७१ ॥

क्योंकि सोये हुए में घनीभूत प्रकाश अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान रहता है; इसलिए

निद्रा प्रथमजा व्यक्तं महाशून्यमिहोच्यते ॥ ७३ ॥
नास्ति सामान्यपदवी सुषुप्तिस्तत्प्रकाशनम् ।
वस्तुदर्शनकालेऽपि जाग्रत्येवंविधं मनः ॥ ७४ ॥
किन्तूत्तरक्षणोद्भूतविकल्पौघैस्तिरोहितम् ।

यह मूढ़तारूप है । इसी से प्रकाश की प्रचुरता रहने के कारण सुधीजनों ने दिये की सर्वथा मूढ़ता ही निश्चय की है ॥ ७२½ ॥

विशेष—मैं सबको जान सकता हूँ, लेकिन उसी तरह अपने-आपको नहीं । शायद इसीलिए आत्मज्ञान जैसी सरल घटना कठिन और दुरूह बनी रहती है । क्योंकि यह केवल ज्ञाता और ज्ञेय का ही सम्बन्ध नहीं है । इसीलिए चाहे तो इसे परम ज्ञान हम कह सकते हैं । क्योंकि इस ज्ञान के बाद फिर कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता । अथवा चाहें तो परम अज्ञान भी इसे कहें, क्योंकि यहाँ जानने को ही कुछ नहीं बचता । पदार्थ ज्ञान में विषय-विषयी का सम्बन्ध है, पर आत्मज्ञान में विषय-विषयी का अभाव है । यथार्थ ज्ञान में ज्ञाता है और ज्ञेय है और आत्मज्ञान में न ज्ञेय है और न ज्ञाता । यहाँ तो मात्र ज्ञान है, शुद्ध ज्ञान है । ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का ही नाम है—आत्मज्ञान ।

प्रत्येक पदार्थ की प्रतीति के मूल में उसके अधिष्ठान के रूप में परमतत्त्व का ही बोध होता है । जैसे आईने के ज्ञान के बिना परछाई का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह सबका आधारभूत चिति के बोध के बिना किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । इसीलिए इस ज्ञान को पूर्णशुद्धावस्था का ज्ञान कहा गया है ।

सुप्तावस्था में घनीभूत प्रकाश अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान ही अवशिष्ट रहता है । इसका तात्पर्य यह है कि उस समय विमर्श या सविकल्प ज्ञान बिलकुल रहता ही नहीं है । इसीलिए इसे मूढ़ता या जड़ भी कहा गया है ।

किन्तु शुद्ध ज्ञान, जिसे हम चिति भी कहते हैं, वह केवल घनीभूत प्रकाश ही तो नहीं है, बल्कि स्फुरत् प्रकाश है । यह स्फुरण ही चिति या ज्ञानशक्ति है । इसे ही आगमशास्त्रों में स्पन्द या पूर्णाहन्ता कहा गया है । इससे सम्पन्न होने के कारण ही वह अपने संकल्पमात्र से आईने में परछाई की तरह अपने ही स्वरूप में दृश्यप्रपंच को आभासित कर देती है ।

इनमें दो तथ्यों को देखकर विचार करें—मेरा होना—मेरी अस्तित्व और मेरी जानने की क्षमता—मुझमें ज्ञान का होना, इन दोनों के आधार पर ही मार्ग खोजा जा सकता है ।

सृष्टिकाल में जो सबसे पहला स्वरूप सामने आया उसका नाम है नींद । इसी निद्रा को 'अव्यक्त' या 'महाशून्य' भी कहा जाता है । यह 'नास्ति' अर्थात् 'कुछ नहीं' इस बोध की सामान्यभूमि है । गहरी नींद में ही इसे पाया जाता है ॥ ७३½ ॥

जगे हुए में भी किसी वस्तु को देखते समय मन ऐसा ही होता है । किन्तु

सुषुप्तावव्यक्तशक्तिप्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७५ ॥
मनो विलीनमित्येव विविचन्ति विवेचकाः ।
वस्तुदर्शनकालेऽपि चैवं लीनं मनो भवेत् ॥ ७६ ॥
शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते वक्ष्यामि स्वानुभूतितः ।
यत्र मुह्यन्ति विद्वांसोऽप्यतिसूक्ष्मविवेचकाः ॥ ७७ ॥
निर्विकल्पसमाधिश्च सुषुप्तिर्वस्तुदर्शनम् ।
त्रयमेतच्चैकविधं प्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७८ ॥
विमर्शभेदाद्भेदो हि लक्ष्यते व्यावहारिकैः ।
तत्र हेतुर्भास्यभेदादित्येव प्रविनिश्चयः ॥ ७९ ॥
समाधौ केवलचितिः सुप्तावव्यक्तमेव च ।
दर्शने भिन्नभासो हि भास्यमेवं त्रिधा स्थितम् ॥ ८० ॥
भास्यभेदेऽपि भासस्तु केवलं निर्विकल्पकः ।
अतः प्रकाशनिबिड इत्येव सम्प्रचक्षते ॥ ८१ ॥
समाधिश्च सुषुप्तिश्च चिरकालभवत्वतः ।
अनन्तरं स्पष्टतया सर्वैरपि विमृश्यते ॥ ८२ ॥

इसके पीछे दूसरे ही पल अनेक विकल्पों के सामने आ जाने से वह अवस्था समाप्त हो जाती है ॥ ७४½ ॥

कुछ विचारकों की दृष्टि में गहरी नींद में अव्यक्तशक्ति की घनीभूत निर्विकल्पता की वजह से मन उसी में खो जाता है। किन्तु यथार्थतः किसी वस्तु को देखते समय भी मन इसी प्रकार खोया रहता है ॥ ७५–७६ ॥

सुनो ब्राह्मणदेवता, अपने अनुभव के आधार पर यह रहस्य बतलाता हूँ। क्योंकि इस रहस्य को सुलझाने में सुधी समीक्षक भी उलझ कर बेवकूफ बन जाते हैं ॥ ७७ ॥

निर्विकल्प समाधि, गाढ़ी नींद और वस्तुदर्शन—सघन निर्विकल्पता की दृष्टि से तीनों एक जैसे ही हैं ॥ ७८ ॥

किन्तु सांसारिक लोगों को विमर्श-भेद के कारण ही इनका प्रभेद प्रतीत होता है। वस्तुतः इनका भेद स्वतः न होकर अपने प्रभेदक के कारण ही प्रतीत होता है ॥ ७९ ॥

समाधि में केवल चिति ही शुद्ध रूप से रहती है। गाढ़ी नींद में अप्रकट भी है और वस्तु के रूप में अनेक प्रकट रूप भी है। इस तरह इस अवस्था में तीन तरह की प्रतीति भी हैं ॥ ८० ॥

दर्शक के भेद होने पर भी दृष्टि तो केवल निर्विकल्प ही रहती है। इसी से उसे तीनों अवस्थाओं में सघन प्रकाश ही कहा जाता है ॥ ८१ ॥

क्षणिकत्वाद्दर्शनं तु स्पष्टं न हि विमृश्यते ।
एवं समाधिः सुप्तिश्च क्षणिका न विमृश्यते ॥ ८३ ॥
सुषुप्तिः क्षणिका तद्वत् समाधिरपि विद्यते ।
सुषुप्तिर्लक्ष्यते सूक्ष्मदृग्भिः परिचयात् खलु ॥ ८४ ॥
समाधिस्त्वपरिचयात् सूक्ष्मो न हि विमृश्यते ।
सर्वेषां प्राणिनां ब्रह्मन् व्यवहारदशास्वपि ॥ ८५ ॥
सूक्ष्माः समाधयः सन्ति चाव्युत्पत्त्या विभान्ति नो ।
जाग्रत्यविमृशिर्या स्यात् स समाधिरुदीरितः ॥ ८६ ॥
विमर्शाभावमात्रन्तु समाधिरभिधीयते ।
सुषुप्तौ दर्शने चापि समाधित्वमतः स्थितम् ॥ ८७ ॥
किन्तु मुख्यसमाधित्वमनयोर्न हि विद्यते ।
भेदामर्शनसंस्कारगर्भितत्वान्न मुख्यता ॥ ८८ ॥
दर्शनं जाग्रति भवेदविमर्शनरूपकम् ।
तथापि ते प्रवक्ष्यामि मुनिपुत्रादराच्छृणु ॥ ८९ ॥

समाधि और गहरी नींद लम्बे अरसे तक रहती है। पीछे उनकी अनुभूति सब कबूल करते हैं ॥ ८२ ॥

किन्तु किसी वस्तु का अवलोकन तो अनित्य है, अतः उसका साफ-साफ परिचय नहीं होता। इसी तरह समाधि और सुषुप्ति भी क्षणिक होती तो उसका भी परिचय नहीं होता ॥ ८३ ॥

व्यवहार में कभी क्षणिक सुषुप्ति और समाधि भी हो जाती है। किन्तु लम्बी गहरी नींद का परिचय रहने के कारण बारीक बात को सोचने-समझने वाला व्यक्ति इस सुषुप्ति को तो पहचान लेता है। किन्तु समाधि का परिचय नहीं रहने के कारण किसी वस्तु के अवलोकन काल में जो सूक्ष्म समाधि की स्थिति होती है, वह पहचानी नहीं जाती है ॥ ८४½ ॥

हे ब्राह्मण ! व्यवहार के समय सब प्राणियों को सूक्ष्म समाधि लगती है। पर परिचय नहीं रहने के कारण वह पहचान में नहीं आती है ॥ ८५½ ॥

जगे रहने पर भी कभी-कभी जो संकल्पशून्य की स्थिति हो जाती है, उसे समाधि ही कहा गया है। किसी तरह की विचारशून्यता ही तो समाधि कहलाती है ॥ ८६½ ॥

इसलिए गाढ़ी नींद और वस्तुदर्शन के समय भी समाधि तो रहती ही है। किन्तु वे मुख्य समाधि नहीं मानी जाती है। इस स्थिति में भेद का उल्लेख कराने वाला संस्कार छिपा रहता है। इसीलिए उसे मुख्य समाधि नहीं माना गया है ॥ ८७–८८ ॥

लगे रहने पर भी जो किसी वस्तु का हम अवलोकन करते हैं, उस समय भी तो

अव्यक्तं यत् प्रथमजं नास्ति सामान्यकं हि तत् ।
नास्तीत्येव हि तद्भानमत्यन्ताभावरूपकम् ।। ९० ।।
एषा सुषुप्तिरित्युक्ता जडशक्तिर्भवेच्चितः ।
दर्शने भासमानं च नास्त्याभासपदं यतः ।। ९१ ।।
अतः सुषुप्तिरेव स्याज्जडदर्शनसञ्ज्ञता ।
समाधौ भासमाना या चितिः सा ब्रह्मरूपिणी ।। ९२ ।।
भक्षिणी कालदेशानां नास्त्याभासविनाशिनी ।
सर्वथाऽस्तिमयी देवी सुषुप्तिः सा कथं भवेत् ।। ९३ ।।
तस्मात् सुषुप्तिमात्रेण न भवेद्धि कृतार्थता ।
बोधयामास जनक इत्यष्टावक्रमुक्तिभिः ।। ९४ ।।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टावक्रीये षोडशोऽध्यायः ।

विचारशून्यता की ही स्थिति रहती है । फिर भी इसका रहस्य मैं साफ शब्दों में समझाता हूँ । मुनिपुत्र ! सम्मानपूर्वक इसे आप समझो ।। ८९ ।।

सबसे पहले जो पैदा हुआ वह 'अप्रकट' है । उसका सामान्य रूप 'कुछ भी नहीं है' । यह 'कुछ भी नहीं है' इसकी प्रतीति अत्यधिक अभावस्वरूप ही है ।। ९० ।।

इसे ही 'गहरी नींद' कहा गया है । यह चेतन की जड़शक्ति है । क्योंकि देखने के समय यह 'कुछ भी नहीं है' बिलकुल अभाव की प्रतीति की भूमि है । अतः सुषुप्ति ही जड़ता ज्ञान के साथ मान्य है ।। ९१½ ।।

किन्तु समाधि में जो स्थिति दीखती है, वह तो साक्षात् परब्रह्म ही है । यह स्थिति देशकाल की मर्यादा को खा जाती है । 'कुछ भी नहीं है' इसे विनष्ट कर देती है । अतः पूरी सत्ता के स्वरूप में सुषुप्ति कभी नहीं हो सकती है ।। ९२–९३ ।।

इसलिए केवल सुषुप्ति से ही सफलमनोरथ कोई कैसे हो सकता है । इस तरह अनेक युक्तियों से राजा जनक ने अष्टावक्र को समझाया ।। ९४ ।।

सोलहवाँ अध्याय समाप्त ।

सप्तदशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं जनकेनोक्तमष्टावक्रः पुनर्नृपम् ।
पप्रच्छ यत्तद्वदामि शृणु भार्गव यत्नतः ॥ १ ॥
राजन् यदुक्तं भवता व्यवहारदशास्वपि ।
सूक्ष्माः समाधयः सन्तीत्येवं तन्त्रे वद स्फुटम् ॥ २ ॥
दशासु कासु ते सन्ति निर्विकल्पचिदात्मकाः ।
एवं तेनाऽनुयुक्तोऽथ प्राह राजा महाशयः ॥ ३ ॥
शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि व्यवहारे समाधयः ।
प्रियया सम्परिष्वक्तो नव्यया प्रथमं यदा ॥ ४ ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः ।
तिष्ठेन्न निद्रयाऽऽक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ५ ॥
यच्चिराद्वाञ्छितं किञ्चिदलभ्यत्वेन निश्चितम् ।
अकस्मात्तस्य सम्प्राप्तिर्यदा भवति वै मुने ॥ ६ ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः ।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ७ ॥

(राजा जनक की अपनी अनुभूति तथा साधन-प्रक्रिया का निरूपण)

हे परशुराम ! पूरी सावधानी से सुनो—जनक की बातें सुनकर अष्टावक्र ने फिर उनसे जो प्रश्न किया, वही बतलाता हूँ ॥ १ ॥

राजन् ! आपने जो कहा कि व्यवहार अर्थात् कामकाज के समय भी हलकी समाधि लग जाती है; यह कैसे ? यह साफ-साफ मुझे समझा दें ॥ २ ॥

"वह विकल्पविहीन, स्थिरज्ञानस्वरूप समाधि किन-किन स्थितियों में हुआ करती है" ? यह आप मुझे साफ शब्दों में समझा दें। अष्टावक्र के प्रश्न का उत्तर उदारचेता महाराज जनक ने देना शुरू किया ॥ ३ ॥

सुनो ब्राह्मणदेवता ! दुनियादारी में होनेवाली समाधियों के बारे में बतलाता हूँ—यदि कोई पुरुष पहली बार अपनी नयी नवोढ़ा पत्नी के साथ आलिंगन में आबद्ध होता है तो एक क्षण के लिए उसे बाहर-भीतर की कोई सुध नहीं रहती। उस समय वह गहरी नींद में भी नहीं रहता है। तन-मन की इस बेसुध स्थिति को समाधि कहते हैं ॥ ४–५ ॥

यदि कोई वस्तु किसी व्यक्ति को मिलनेवाली न हो और उसे पाने की लालसा उसे बहुत दिनों से हो, वह वस्तु उसे अचानक ही अगर मिल जाय तो खुशी के मारे एक क्षण के लिए वह भीतर-बाहर की सारी सुध भूल जाता है। उस समय वह नींद में भी नहीं होता है। इस बेसुध क्षण को समाधि ही तो कहते हैं ॥ ६–७ ॥

अतर्कितं व्रजन् क्वापि निर्भयो हृष्टमानसः।
अकस्माद्यदि सम्पश्येद् व्याघ्रादि मृत्युसम्मितम् ॥ ८ ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ९ ॥
अतिप्रियं स्वपुत्रादि विभुं च गृहकर्मणि।
अरोगिणं यदाऽकस्मात् संशृणोति मृतं किल ॥ १० ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ११ ॥
अथान्यथापि वक्ष्यामि समाधेः सम्भवं शृणु।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां मध्ये सन्ति समाधयः ॥ १२ ॥
दूरे किञ्चित् पश्यतस्तु बुद्धया चैकाग्रया मुने।
मनो दीर्घात्मतां याति जलूकेव तृणालिषु ॥ १३ ॥
देहे देहाभासमयं भावे भावात्मकं तथा।
मध्ये तन्निर्विकल्पाख्यं मनो लक्षय सर्वदा ॥ १४ ॥
बहुना किमिहोक्तेन शृणु सूक्ष्मविमर्शनम्।
व्यवहारे न कस्यापि ज्ञानमेकन्तु भासते ॥ १५ ॥

यदि कोई व्यक्ति खुशी मन से निडर होकर कहीं जा रहा हो और उसी समय अचानक राह में, जिसकी उमीद न हो ऐसा बाघ की तरह कोई जानलेवा जन्तु सामने आ जाय तो एक क्षण के लिए वह अपनी सारी सुध खो देता है। उस समय भी वह नींद में नहीं होता है। इस स्थिति को भी तो समाधि ही कहते हैं ॥ ८–९ ॥

अपना बेटा या कोई अत्यन्त प्यारा आदमी, जो घर के कामकाज में पूरा निपुण हो, शरीर से स्वस्थ हो और उसके बारे में अचानक सुने कि यह मर गया, तो उसे जैसे काठ मार जाय—उसे तन-बदन की सुध नहीं रहती और न तो वह नींद में ही रहता है। इसे भी तो समाधि ही कहते हैं ॥ १०–११ ॥

इसके अलावा समाधि की और भी स्थितियाँ हैं जिन्हें मैं बतलाता हूँ, सुनो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के बीच में जो सन्धिस्थल है, उनमें भी समाधियाँ रहती हैं ॥ १२ ॥

जब कोई व्यक्ति दूर की किसी वस्तु को गौर से देखता है तो आँख के साथ उसका मन भी घास पर रेंगनेवाली जोंक की तरह लम्बा हो जाता है। इसी तरह जब वह देह में रहता है तब देह की तरह तथा यदि किसी दूसरे ख्याल में रहता है तो उस ख्याल की तरह ही बन जाता है। किन्तु किसी ख्याल में न जाकर जब वह बीच में रहता है तो इस स्थिति में हमेशा मन को विकल्पविहीन ही तो पाओगे ॥ १३–१४ ॥

हे कुशाग्रबुद्धे! इसके बारे में और अधिक क्या कहा जाय, फिर भी सुनो।

खण्डज्ञानसमूहात्मा व्यवहारोऽयमाततः ।
अत एव वर्णयन्ति तैर्थिकाः सर्व एव हि ॥ १६ ॥
आत्मानं बुद्धिमपि वा क्षणभेदविभेदितम् ।
तदन्तरक्षणौघेषु निर्विकल्पदशा स्थिता ॥ १७ ॥
कहोलात्मज जानीहि जानतां तु प्रतिक्षणम् ।
समाधिरस्ति चान्यस्य समाधिः शशशृङ्गवत् ॥ १८ ॥
जनकोक्तमिति श्रुत्वा भूयः पप्रच्छ स द्विजः ।
राजन्नेवं व्यवहृतौ समाधिर्निर्विकल्पकः ॥ १९ ॥
सर्वेषामस्ति यदि चेत्तत् कुतः संसृतिर्भवेत् ।
सुषुप्तौ दर्शने चापि जडाव्यक्तविभासतः ॥ २० ॥
पुरुषार्थासाधनत्वं समाधिस्त्वविकल्पकः ।
शुद्धसंविद्विभासात्मा तद्भूयः संसृतिः कथम् ॥ २१ ॥
एतदेव हि विज्ञानमज्ञानकुलनाशनम् ।
निर्विकल्पसमाध्याख्यं यन्निःश्रेयसकारणम् ॥ २२ ॥
एतन्मे शंस राजेन्द्र सर्वसंशयनाशनम् ।
इत्यापृष्टो महीपालः प्राह तं मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

इस दुनियादारी में हर हमेशा किसी का ज्ञान एक जैसा तो नहीं रहता है । यह दुनिया का जंजाल टुकड़े-टुकड़े ज्ञानों का समूह ही तो है । दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रायः सभी आचार्य आत्मा और बुद्धि को क्षण-क्षण में परिवर्त्तित रूप में पाते हैं । इन बदलते क्षणों के बीच में जो क्षणिक अवकाश रहता है, उसमें निर्विकल्प स्थिति रहती है ॥ १५–१७ ॥

कहोलपुत्र ! याद रखो, जिन्हें समाधि के स्वरूप का बोध है, उसके लिए तो हर क्षण में समाधि की स्थिति बनी रहती है; नहीं तो दूसरों के लिए तो समाधि खरगोश के सींग की तरह है ही नहीं ॥ १८ ॥

जनक का जवाब सुनकर फिर अष्टावक्र ने पूछा—राजन् ! इस तरह यदि सांसारिक जंजाल में सबको निर्विकल्प समाधि होती रहती है तो फिर यह दुनिया कैसे चलती रहती है ? ॥ १९½ ॥

ज्ञानात्मक वस्तुओं का अवलोकन और गहरी नींद में तो घड़े आदि जड़ पदार्थों का और अव्यक्त का विचार होता है । अत वे तो मोक्षरूपी पुरुषार्थ के साधन नहीं हो सकते । पर निर्विकल्प समाधि तो शुद्ध चेतन की ही अनुभूति है, फिर यह संसार-चक्र कैसे चल रहा है ? ॥ २०–२१ ॥

और जिसे आप निर्विकल्प समाधि कहते हैं, वही तो अज्ञान की परम्परा की विनाशिका है तथा मुक्ति का कारण विशुद्ध ज्ञान है, तो फिर यह दुनिया चलती कैसे है ? ॥ २२ ॥

श्रृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमन्त्विदम्।
अज्ञानात् संसृतिरियं प्रवृत्ताऽनादिकालतः ॥ २४ ॥
सुखदुःखावभासानां प्रवाहात्मतया स्थिता।
स्वप्नवत् सन्तता सर्वैः सर्वदा ह्यनुभूयते ॥ २५ ॥
निवृत्तिस्तस्य तु ज्ञानादेवेति प्रविभावितम्।
तज्ज्ञानं सविकल्पं स्यादज्ञानस्य प्रबाधनम् ॥ २६ ॥
निर्विकल्पकविज्ञानादज्ञानं न निवर्त्तते।
निर्विकल्पकविज्ञानं केनचिन्न विरुद्ध्यते ॥ २७ ॥
निर्विकल्पकविज्ञानं सविकल्पसमाश्रयम्।
विचित्रचित्राभासानां भित्तिवत् सुव्यवस्थितम् ॥ २८ ॥
निर्विकल्पं ज्ञानमिति केवलं ज्ञानमुच्यते।
तत्रैव हि विकल्पानामुल्लेखात् सविकल्पकम् ॥ २९ ॥
अज्ञानं सविकल्पाख्यज्ञानमेव न चेतरत्।
तदनेकविधं कार्यकारणात्मतया स्थितम् ॥ ३० ॥
कारणं स्वात्मपूर्णत्वाख्यातिरूपमुदीरितम्।
चिदात्मा पूर्ण एव स्यादवच्छेदविवर्जनात् ॥ ३१ ॥
अवच्छेदनहेतूनां कालादीनां हि साधकः।

हे राजन् ! हर संदेह को मिटानेवाला यह रहस्य क्या है ? कृपया मुझे समझा दें। इस तरह पूछने पर राजा ने अष्टावक्र से कहा – ॥ २३ ॥

सुनो हे ब्रह्मन् ! मैं यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य आपको समझाता हूँ। अपनी ही मूर्खता की वजह से यह दुनिया सब दिन से ही इसी तरह चलती आ रही है ॥ २४ ॥

सुख हो या दुःख हर अनुभूति में यह एक नदी की धारा की तरह मौजूद है। प्राणी हर हमेशा सपने की तरह इसका अनुभव करते हैं ॥ २५ ॥

केवल ज्ञान से ही इससे छुटकारा मिल सकता है। अज्ञान से मुक्ति दिलानेवाला यह ज्ञान सविकल्प होना चाहिए ॥ २६ ॥

विकल्पविहीन बोध से जड़ता से छुटकारा नहीं मिलता। क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान का विरोध किसी के साथ नहीं होता है ॥ २७ ॥

जैसे तरह-तरह की तसवीर आधार दीवार होती है। उसी तरह निर्विकल्प ज्ञान तो सारे विकल्पों का आधार बनकर मौजूद है ॥ २८ ॥

निर्विकल्प ज्ञान ही केवल शुद्ध ज्ञान है। इसी में जब विकल्पों का उदय होता है तब वह सविकल्प हो जाता है ॥ २९ ॥

अज्ञान भी सविकल्प कहलानेवाला ज्ञान ही है और कुछ नहीं। वह कार्य-कारण भाव से अनेक रूपों में विभक्त है ॥ ३० ॥

अपनी आत्मा का बोध न होना ही अज्ञान का कारण कहा गया है। सिर्फ

तथाविधात्मनः ख्यातिरपूर्णत्वेन या स्थिता ॥ ३२ ॥
अत्राधुनास्मीतिरूपा मूलाज्ञानं हि सा भवेत् ।
तस्यैवं पल्लवप्रायं देहात्मत्वादिभासनम् ॥ ३३ ॥
अज्ञानस्य निवृत्त्यन्तं संसारो न निवर्त्तते ।
पूर्णात्मविज्ञानमृते त्वज्ञानं नातिवर्त्तते ॥ ३४ ॥
तच्च पूर्णात्मविज्ञानं द्विविधं सुव्यवस्थितम् ।
परोक्षमपरोक्षञ्च परोक्षं गुरुशास्त्रतः ॥ ३५ ॥
तत् साक्षात् पुरुषार्थस्य न कारणमिति स्थितम् ।
यादृशं ते भवेज्ज्ञानं शास्त्रश्रुतिसमुद्भवम् ॥ ३६ ॥
श्रद्धामात्राभ्युपगतं फलदं न प्रचक्षते ।
अपरोक्षं हि विज्ञानं समाधिपरिपाकजम् ॥ ३७ ॥
सप्रपञ्चाज्ञाननाशक्षमं शुभफलावहम् ।
समाधिर्ज्ञानपूर्वस्तु विज्ञानं जनयेत् खलु ॥ ३८ ॥
तस्मादज्ञानिनां नार्थः समाधौ सम्भवत्यपि ।
यथाऽविदितमाणिक्यः पश्यन् कोशगृहे मणिम् ॥ ३९ ॥

निःसीम चिदात्मा ही परिपूर्ण है। क्योंकि उसकी कोई सीमा नहीं है। देश, काल प्रभृति की सीमा को भी सिद्ध करनेवाली यही चिदात्मा है। यही उस सीमा का हेतु-भूत का कारण है ॥ ३१½ ॥

इस तरह आत्मा की जो 'इस समय मैं यहाँ हूँ' इस तरह की अपूर्ण अनुभूति होती है, यही अज्ञान का मूल कारण है। देह को आत्मा के रूप में देखना या समझना उसी का काम है ॥ ३२–३३ ॥

जब तक अज्ञान मिट नहीं जाता तब तक संसार का अन्त नहीं होता और आत्मा की पूर्णता का ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक अज्ञान से छुटकारा नहीं मिलता ॥ ३४ ॥

आत्मा की पूर्णता का ज्ञान दो तरह से होता है। परोक्ष और अपरोक्ष अर्थात् अलक्षित एवं लक्षित। इनमें परोक्ष ज्ञान तो गुरु या शास्त्र से मिलता है, किन्तु वह ज्ञान मुक्तिरूप पुरुषार्थ का साक्षात् साधन नहीं है—यह बात निश्चित रूप से समझना चाहिए ॥ ३५½ ॥

वेदशास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न जैसा तुम्हारा ज्ञान है, वह सिर्फ श्रद्धा से ही माना हुआ है। इस ज्ञान से मुक्ति रूपी फल नहीं मिलता है ॥ ३६½ ॥

प्रत्यक्ष शुद्ध ज्ञान की अपनी अनुभूति तो समाधि की पूर्णता से ही होती है। वही ज्ञान दुनिया के प्रपञ्च से उत्पन्न अज्ञान का विनाशक होता है। उसी ज्ञान का परिणाम मुक्ति है। ज्ञानपूर्वक समाधि से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ३७–३८ ॥

अतः दुनियाई कामकाजों में अज्ञानियों को समाधि लगते रहने पर भी उनसे मुक्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। जिसे मणि की पहचान नहीं है, खजाने में

न जानाति यथान्यस्तु श्रुतज्ञातमणिः क्वचित् ।
दृष्ट्वा प्रत्यभिजानाति तत्परो मणिमञ्जसा ॥ ४० ॥
अतः परः श्रुतमपि भूयः पश्यन् मणिं क्वचित् ।
न विजानाति तदिह ब्रह्मन् सुनिपुणोऽपि सन् ॥ ४१ ॥
तथा मूढा न विन्दन्ति फलं विज्ञानसंश्रयम् ।
अज्ञातत्वात् पण्डितास्तु श्रुतज्ञानयुता अपि ॥ ४२ ॥
अतत्परत्वहेतोस्तु न विजानन्ति सर्वथा ।
यथा हि तारकां पश्यन्नपि जानाति न क्वचित् ॥ ४३ ॥
मूढः श्रुतज्ञानहीनः श्रुतज्ञानयुतोऽपि वै ।
पश्यन्नपि च नो वेत्ति तत्परत्वविवर्जनात् ॥ ४४ ॥
यस्तु श्रुत्वा शुक्रतारां दिगाकारादिलक्षणैः ।
मया ज्ञेयं सर्वथेति तत्परो बुद्धिमान् नरः ॥ ४५ ॥
एकाग्रमानसः पश्यन् प्रत्यभिज्ञास्यति स्फुटम् ।
एवमज्ञानतो मूढाश्चान्ये तात्पर्यवर्जनात् ॥ ४६ ॥
न विजानन्ति स्वात्मानं ब्रह्मन् सत्सु समाधिषु ।
भिक्षामटति दुर्दैवाद् यथा वै विस्मृताकरः ॥ ४७ ॥

रखी मणि को देखकर भी उसे वह पहचान नहीं पाता। किन्तु जिसे सुन-सुनाकर भी मणि का ज्ञान है और वह उसकी खोज में लगा है, उसे पाते ही बड़ी आसानी से उसे पहचान लेता है ॥ ३९–४० ॥

किन्तु हे ब्राह्मणदेवता ! जिसे मणि की खोज नहीं है उसने भले ही मणि के बारे में सुन रखा हो और खुद काफी चतुर हो, फिर भी मणि को देखने पर वह पहचान नहीं पाता है ॥ ४१ ॥

इसी तरह अज्ञानी आदमी को अनजाने व्यवहार में समाधि होने पर तत्त्वज्ञान का होनेवाला फल तो मिलता नहीं। शास्त्रोक्त ज्ञानसम्पन्न सुधीजनों को भी इसकी खोज की चाह नहीं रहने के कारण इसे सही ढंग से पहचान नहीं पाते ॥ ४२½ ॥

यह उसी तरह की बात है जैसे आकाश में तारे को देखने पर भी उसके बारे में अनजान आदमी उसे पहचान नहीं पाता। जिसके पास उसके बारे में सुना-सुनाया ज्ञान है, उसमें उसे देखने की ललक नहीं रहने की वजह से वह भी उसे पहचान नहीं पाता ॥ ४३–४४ ॥

जिसने शुक्रतारे के बारे में जानकारी हासिल कर ली है और उसके मन में उसे पहचानने की ललक जगी हो कि वह किस दिशा में और कैसा है ? मैं उसे अपनी आँखों से देखूँ तो वह बुद्धिमान् व्यक्ति टकटकी लगाकर देखते हुए आकाश में उसे साफ तौर पर पहचान लेता है ॥ ४५½ ॥

ब्राह्मणदेवता ! इसी तरह समाधि लगते रहने पर भी अज्ञानी तो अज्ञान के

तस्मादेता दशाः सर्वाः समाधीनां निरर्थकाः।
अत एव शिशूनां हि सर्वदा निर्विकल्पकम् ॥ ४८ ॥
न फलं साधयेद् ब्रह्मन्नज्ञानस्यानिवृत्तितः।
प्रत्यभिज्ञात्मकं यत्तु ज्ञानं स्यात् सविकल्पकम् ॥ ४९ ॥
तदेव संसारमूलमज्ञानं विनिवर्त्तयेत्।
अनेकजन्मसुकृतैः सन्तुष्टा स्वात्मदेवता ॥ ५० ॥
यदा तदा मुमुक्षत्वं नान्यदा कल्पकोटिभिः।
चेतनत्वं जन्मवत्सु परमं दुर्लभं भवेत् ॥ ५१ ॥
सुदुर्लभं तेष्वपि च मानुषं जन्म सर्वथा।
तत्रापि सूक्ष्मबुद्धित्वमत्यन्तं हि सुदुर्लभम् ॥ ५२ ॥

कारण और दूसरे लोग 'ललक' न होने के कारण अपनी आत्मा को नहीं जान पाते। ठीक उसी तरह जैसे घर में गड़े खजाने का पता न होने के कारण दुर्भाग्यवश कोई आदमी सड़क पर भीख माँगता फिरे ॥ ४७–४७ ॥

अतः समाधि की ये स्थितियाँ बिलकुल बेकार ही होती हैं। बच्चों को तो हमेशा निर्विकल्प समाधि की ही स्थिति रहती है। फिर भी अज्ञानता से छुटकारा नहीं मिलने के कारण उन्हें उस समाधि का मोक्षरूप फल तो मिल नहीं जाता है ॥४८½॥

जो ज्ञान प्रत्यभिज्ञानात्मक और सविकल्प होता है वही संसार के हेतुभूत अज्ञान से छुटकारा दिला सकता है ॥ ४९½ ॥

विशेष — प्रत्यभिज्ञादर्शन माहेश्वर सम्प्रदाय का एक चिन्तन है, जिसके अनुसार महेश्वर ही परमेश्वर हैं और वही जड़-चेतन सबका कारण है। इस दर्शन में मुक्ति के लिए केवल इस प्रत्यभिज्ञा या ज्ञान की आवश्यकता है कि ईश्वर और जीवात्मा दोनों एक ही हैं और महेश्वर ही ज्ञाता और ज्ञान दोनों हैं। जीवात्मा में परमात्मा का प्रकाश होने पर भी जब तक यह ज्ञान न हो जाय कि ईश्वर के गुण मुझमें भी है तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है—किसी देखी हुई वस्तु को अथवा उसके सदृश अन्य वस्तु को देखने पर जो ज्ञान हो।

अनेक जन्मों में किये गये शुभ कर्मों से जब आत्मदेव खुश हो जाते हैं तब आदमी को इस दुनिया से छुटकारा पाने की इच्छा होती है। नहीं तो करोड़ों कल्प में भी ऐसा सुअवसर नहीं मिल पाता ॥ ५०½ ॥

विशेष — कल्पकाल का एक विभाग, जिसे ब्रह्मा का एक दिन कहते हैं और जिसमें चौदह मन्वन्तर या ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं।

दुनिया में जन्म लेनेवालों में चेतन प्राणी होना बहुत कठिन है। उनमें भी मनुष्य योनि पाना हर तरह से मुश्किल है और मनुष्यों में भी बारीक ढंग से किसी वस्तु पर विचार करनेवाला होना तो महाकठिन है ॥ ५१–५२ ॥

पश्य ब्रह्मन् स्थावराणां शतांशेनापि सम्मितम् ।
न दृश्यते जङ्गमं वै तेषामपि शतांशतः ॥ ५३ ॥
गमं नास्ति मनुष्यत्वं तत्रापि परिभावय ।
पशुतुल्याः प्रदर्श्यन्ते मनुष्याणां हि कोटयः ॥ ५४ ॥
ये न जानन्ति सदसत् पुण्यं वा पापमेव वा ।
अन्येऽपि कोटिशो मर्त्याः प्रवृत्ताः कामनापराः ॥ ५५ ॥
गतागतं रोचयन्ते पाण्डित्याभासगर्विताः ।
एवंविधजनानां तु केऽप्यन्ये बुद्धिमद्विधाः ॥ ५६ ॥
मालिन्यशेषचित्तास्तेऽप्यद्वैतपदनास्तिकाः ।
भगवन्मायायाच्छन्नमद्वैतं परमं पदम् ॥ ५७ ॥
कथं सर्वैः समासाद्यं मायान्धैर्मन्दभाग्यकैः ।
मायान्धानां तत्पदं तु न बुद्धिमुपरोहति ॥ ५८ ॥
अन्ये दुर्भागधेयास्ते बुद्ध्यारूढमपीह ये ।
वृथाभिनिविशन्ति भूयोऽपह्नुवन्ति कुकल्पनैः ॥ ५९ ॥
अहो भगवती माया पश्यन्तोऽपि महत्पदम् ।
चिन्तामणिं हस्तगतं त्यजन्ति हि कुकल्पनैः ॥ ६० ॥

देखो ब्राह्मण ! स्थावर अर्थात् अचल जीवों का सौवाँ हिस्सा भी संसार में जंगम अर्थात् चलने-फिरने वाले प्राणी नहीं हैं । जंगम जीवों का सौवाँ हिस्सा भी आदमी [illegible], उनमें भी करोड़ों आदमी पशुओं की तरह हैं, जिन्हें झूठ-सच या पुण्य-पाप का [illegible] ज्ञान नहीं है ॥ ५३–५४½ ॥

इनके अलावा करोड़ों लोग अपनी-अपनी कामना के पीछे पागल होकर प्रवृत्ति [illegible] में जुटे हैं । अपनी बुद्धिमत्ता के घमण्ड में चूर रहने के कारण उन्हें स्वर्गादि [illegible] पदार्थ के प्रति भी अभिरुचि है ॥ ५५–५६ ॥

[illegible] लोगों में भी कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें बुद्धिमान् कहा जा सकता है । उनके [illegible] में भी मैलापन बचे रहने के कारण अनित्य पद में उनकी भी आस्था नहीं [illegible] ॥ ५५–५६½ ॥

यह बेजोड़ मुक्ति तो परमात्मा की माया से ढकी है । प्रभु की माया से अन्धे बने [illegible] लोगों की पहुँच यहाँ तक कैसे हो सकती है ? इस माया से मोहित लोगों की [illegible] में यह मोक्ष नहीं आ सकता ॥ ५७–५८ ॥

कुछ ऐसे भी अभागे होते हैं जिनकी बुद्धि में मुक्ति का महत्त्व आ जाने पर भी [illegible] की जिद में फँसकर तरह-तरह की कुकल्पनाएँ करके हाथ धो बैठते हैं ॥ ५९ ॥

अहो ! भगवान् की माया भी कितनी प्रबल है कि इस महामुक्ति को समझ लेने [illegible] भी अनेक कुकल्पनाओं से प्रेरित होकर हाथ में पाये चिन्तामणि को आसानी [illegible] देते हैं ॥ ६० ॥

येषां समाराधनेन तुष्टा सा स्वात्मदेवता।
ते मायया विनिर्मुक्ताः सुतर्कैः श्रद्धया युताः॥ ६१॥
पराद्वये समाश्वस्ताः प्राप्नुवन्ति परं पदम्।
तत्क्रमं तेऽभिधास्यामि ब्रह्मन् संशृणु संयतः॥ ६२॥
अनन्तजन्मसुकृतैर्देवताभक्तिराप्यते।
तया संराध्य सुचिरं तत्प्रसादात्ततः परम्॥ ६३॥
वैरस्यं भोगवृन्देषु तत्परत्वञ्च प्राप्नुयात्।
वैराग्यतत्परत्वाभ्यां श्रद्धया चापि सङ्गतः॥ ६४॥
सद्गुरुं प्राप्य तत्प्रोक्त्या वेत्त्यद्वैतं परं पदम्।
एतज्ज्ञानं परोक्षं वै ह्यस्त्यद्वैतमितीह यत्॥ ६५॥
ततो विचारयेत् सम्यगद्वैतं स्वात्मदैवतम्।
उपपाद्य सुतर्कैस्तु संशयांस्तेन नाशयेत्॥ ६६॥
अथ निश्चितमात्माख्यतत्त्वमद्वयमादरात्।
अनुध्यायेदापरोक्षं हठवृत्त्यापि यत्नतः॥ ६७॥
ततो विकल्पविषयीकृत्य ध्यातं परं पदम्।
संसारमूलमज्ञानं नाशयेन्नात्र संशयः॥ ६८॥

जिन भले लोगों की आराधना से आत्मदेव प्रसन्न हो जाते हैं, उसे माया से छुटकारा मिल जाता है। शास्त्रसम्मत तर्क और श्रद्धा से भर जाते हैं और उस बेजोड़ मुक्ति-साधन में लीन होकर उसे पा लेते हैं॥ ६१½॥

हे ब्राह्मण! अब मैं इस संसार से मुक्ति पाने का तरीका समझाता हूँ, तुम दत्त-चित्त होकर सुनो। जन्म-जन्मान्तर के पुण्यफल से इष्टदेव की भक्ति मिलती है। उस भक्ति से इष्टाराधन में मन लगता है। आराधना से उनकी कृपा मिलती है। उनकी कृपा से भोगों में अरुचि होती है; फिर मुक्ति पाने की ललक जगती है॥६२–६३½॥

विरक्ति, मुस्तैदी और श्रद्धा से सम्पन्न होकर साधक सद्गुरु की शरण में जाता है और उनके उपदेश से मोक्ष का ज्ञान पाता है। यह ज्ञान तो परोक्ष ही होता है, क्योंकि इससे केवल इतना विश्वास हो जाता है कि यह 'बेजोड़' है॥ ६४–६५॥

फिर इस 'बेजोड़ मुक्ति' के बारे में अच्छी तरह विचार करना चाहिए। अच्छे-अच्छे तर्कों से संदेह से मुक्त होकर सही निर्णय लेना चाहिए॥ ६६॥

इस तरह निश्चयपूर्वक अनुपम आत्मा का ससम्मान लगातार प्रत्यक्ष साक्षात्-कार होने तक बार-बार अनुचिंतन करना चाहिए। ऐसा सायास बलपूर्वक करना चाहिए॥ ६७॥

फिर 'यह परम पद तो मैं ही हूँ' ऐसे विकल्प को सामने रखकर ध्यान करने पर वह परम पद दुनिया के मूल कारण अज्ञान का नाश ही कर देगा—यह असंदिग्ध है॥ ६८॥

पक्वध्याने निर्विकल्पे समाध्याख्ये परं पदम् ।
आसाद्य पश्चात् संस्मृत्य प्रत्यभिज्ञानवान् भवेत् ॥ ६९ ॥
सोऽद्वैतात्माऽहमस्मीति त्वपरोक्षविकल्पतः ।
संसारमूलमज्ञानं साङ्गं नाशयति द्रुतम् ॥ ७० ॥
ध्यानस्य परिपाको हि विकल्पपरिवर्जनम् ।
विकल्पो विविधख्यातिरेकधा निर्विकल्पकः ॥ ७१ ॥
अन्यानुल्लेखमात्रेण विकल्पो वर्जितो भवेत् ।
विकल्पे वर्जिते पश्चान्निर्विकल्पं स्वतः स्थितम् ॥ ७२ ॥
चित्रे विमृष्टे यद्वत्तु शुद्धा भित्तिर्हि संस्थिता ।
सम्पादनं शुद्धभित्तेश्चित्रसम्मार्ष्टिरेव हि ॥ ७३ ॥
एवं विकल्पस्यापोहे निर्विकल्पं मनः स्वतः ।
निर्विकल्पात्मसम्पत्तिर्विकल्पत्याग एव हि ॥ ७४ ॥
नातोऽधिकं किञ्चिदस्ति पदं प्राप्यं हि पावनम् ।
अत्र मुह्यन्ति विबुधा अपि मायामहित्वतः ॥ ७५ ॥
सुबुद्धानां क्षणेनैव पदमेतद्धि लक्षितम् ।
त्रिधाऽधिकारिणो ब्रह्मन्नुत्तमाधममध्यमाः ॥ ७६ ॥

स्थिर समाधि से ध्यान की पूर्णता होने पर मोक्ष मिलता है। फिर उसी को याद रखते हुए 'मैं वही हूँ' ऐसी स्मृति की सहायता से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से जुड़े रहें ॥ ६९ ॥

वह 'अनुपम आत्मा मैं ही हूँ' ऐसी प्रत्यक्ष भ्रान्ति रहने पर वह तत्त्वज्ञान उसी क्षण संसार के मूल अज्ञान को जड़मूल से मिटा देता है ॥ ७० ॥

सन्देह का मिट जाना ही ध्यान की पूर्णता है। सन्देह अनेकविध ज्ञान को कहा गया है और स्थिर स्थिति सदैव एकरूप होती है ॥ ७१ ॥

मन में किसी अन्य वस्तु का स्मरण न होने से ही संदेह मिट जाता है। भ्रान्ति न रहने पर स्थिरता तो अपने-आप आ जाती है ॥ ७२ ॥

तसवीर के मिट जाने पर दीवार जैसे साफ दिखाई देती है, वैसे ही दुनिया की तसवीर दिल से मिटा देना ही साफ दीवार तैयार करना है ॥ ७३ ॥

इसी तरह संदेह से छुटकारा मिलते ही मन अपने-आप स्थिर हो जाता है। अतः संदेह का त्याग ही स्थिर आत्मा की उपलब्धि है ॥ ७४ ॥

इससे अधिक और कोई पवित्र वस्तु पाने योग्य नहीं है। किन्तु माया की अपार महिमा की वजह से बड़े-से-बड़े बुद्धिमान् भूल करते रहते हैं ॥ ७५ ॥

शुद्ध बुद्धिवाले लोगों को तो एक पल में ही इस पद के दर्शन मिल जाते हैं। ब्राह्मणदेवता! उत्तम, मध्यम और अधम कोटि में तीन तरह के इसके अधिकारी होते हैं ॥ ७६ ॥

उत्तमाः सकृदादेशकाले बुद्धयन्ति तत्पदम् ।
विचारो ध्यानमपि च श्रुतिकालसमं भवेत् ॥ ७७ ॥
उत्तमानां न हि क्लेशः प्राप्तौ तस्य पदस्य हि ।
अहं पुरा निदाघस्य रात्रौ ज्योत्स्नासुमण्डिते ॥ ७८ ॥
प्रियया सम्परिष्वक्तो विकसद्वाटिकाङ्गणे ।
परार्द्ध्यशयनासीनो मदिरामदघूर्णितः ॥ ७९ ॥
अश्रौषं खे सिद्धगणवचनं मधुपेशलम् ।
अद्वैतत्वाश्रितं चैव तत्काले ह्यविदं पदम् ॥ ८० ॥
विज्ञातं तद्विचारेण ध्यानेनापि तदेव हि ।
एवमर्द्धमुहूर्त्तेन ज्ञात्वा तत्पावनं पदम् ॥ ८१ ॥
मुहूर्त्तमभवं भूयस्तत्समाहितमानसः ।
परमानन्दवाराशिपरिमग्नो ह्यशेषतः ॥ ८२ ॥
अथ स्मृतिं समासाद्य विचारपरमोऽभवम् ।
अहोऽद्भुतपदं ह्येतदानन्दामृतनिर्भरम् ॥ ८३ ॥
अपूर्वमासादितं मे भूयस्तत् संविशाम्यहम् ।
नैतस्य लेशमात्रं स्यादैन्द्रादिसुखमप्यलम् ॥ ८४ ॥
आब्रह्म सुखमेतस्य लेशतोऽपि न सम्मितम् ।
अद्यावधि व्यर्थ एष कालो मे ह्यतिवाहितः ॥ ८५ ॥

उत्तम कोटि के लोग एक बार समझा देने पर ही उस पद को समझ जाते हैं। उन्हें सुनने के समय ही उन्हें विचार और ध्यान अधिगत हो जाते हैं। इसकी प्राप्ति में उत्तम कोटि के अधिकारियों को कोई कठिनाई नहीं होती ॥ ७७½ ॥

एक समय की बात है। गर्मी के दिन थे। रात का समय था। धरती चाँदनी से चमक रही थी। बगीचे के चौक में कीमती पलंग पर अपनी प्रिया के साथ आलिंगनबद्ध मैं पड़ा था। शराब के नशे में मेरी लाल-लाल आँखें घूम रही थीं। अचानक आकाश में मैंने सिद्धों की आवाज सुनी। वे आवाजें मधु से भी मीठी थीं। वे अद्वैत तत्त्व का निरूपण करनेवाले थे। बस, उसी समय मुझे उस परमपद का ज्ञान हो गया ॥ ७८–८० ॥

उसी क्षण उसे मैंने विचार और ध्यान के द्वारा जान लिया। इस तरह आधे पल में ही उस पवित्र पद को जानकर मैं एक मुहूर्त्त तक उसी में खोकर पूर्णतः परमानन्द-सागर में डूब गया ॥ ८१–८२ ॥

फिर होश आने पर मैंने उस पर सोचना शुरू किया—अरे ! यह पद तो बड़ा ही विचित्र है। यह तो आनन्दरूपी अमृत से लबालब भरा है ॥ ८३ ॥

आज मुझे यह एक अद्भुत जगह मिली है। जी करता है फिर वहीं पहुँच जाऊँ। इसके सामने तो देवराज इन्द्र का भी पद फीका है ॥ ८४ ॥

अविदित्वा स्वं निधानं चिन्तामणिगणान्वितम् ।
यथा भिक्षामटति वै मुष्टिपिष्टप्रलिप्सया ॥ ८६ ॥
अहो लोकास्तथा स्वात्मानन्दाज्ञानविमोहिताः ।
बाह्यं सुखं लेशमात्रं प्राप्नुवन्ति महाश्रमैः ॥ ८७ ॥
तदलं मे वृथा बाह्यसुखलेशपरिश्रमात् ।
अनन्तानन्दसन्दोहतत्परः स्यां हि सर्वदा ॥ ८८ ॥
अलमेतेन बाह्येन व्यवहारेण मे किमु ।
पिष्टपेषणकल्पेन चोपालम्भपदेन वै ॥ ८९ ॥
तानि भोज्यानि तान्येव माल्यानि शयनानि च ।
भूषणानि विचित्राणि योषित्सम्भोगकाश्च ते ॥ ९० ॥
चिरपर्युषितप्रायाण्यपि संसेव्यतः पुनः ।
गतानुगतिकत्वान्मे जुगुप्सा न हि जायते ॥ ९१ ॥
इति निश्चित्य भूयोऽहं यावदन्तर्मुखोद्यतः ।
तावदन्यो विमर्शो मां सुशुभः प्रत्युपस्थितः ॥ ९२ ॥
अहो मे चित्तमोहोऽयं किं मामेवमुपस्थितः ।
आनन्दपरिपूर्णात्मा स एवाहं स्थितोऽपि सन् ॥ ९३ ॥

इस सुख के एक कण की तुलना ब्रह्मलोक के साथ नहीं हो सकती । आज तक तो मैंने बेकार ही अपना समय बर्बाद किया ॥ ८५ ॥

जैसे अपने घर के खजाने में रखे चिन्तामणि से अनजान कोई अभागा मुट्ठीभर पिसान पाने के लालच में भीख माँगता हो ॥ ८६ ॥

हाय, इसी तरह ये लोग अपनी आत्मा को नहीं जानने के कारण भूल रहे हैं । काफी मेहनत कर लेशमात्र बाहरी सुख पा रहे हैं ॥ ८७ ॥

बस, अब मुझे इस थोड़े से बाहरी सुख के लिए इतनी मेहनत करने की कोई जरूरत नहीं है । मैं तो हमेशा इस अनन्त आनन्दसागर में ही गोता लगाया करूँगा ॥ ८८ ॥

अब इस दुनिया के जंजाल से मुझे क्या लेना-देना है । यह तो पिसे हुए को पीसने की तरह शिकायत की जगह ही तो है ॥ ८९ ॥

हररोज एक ही तरह का खान-पान, वही माला, वही बिछावन, वही रंग-बिरंगे जेवर और वही नारी-संगम हैं ॥ ९० ॥

बहुत दिनों से लगातार इनका सेवन करते-करते ये जूठे जैसे हो गये हैं, फिर भी इन्हीं का सेवन करते रहते हैं । ऐसा अन्धानुकरण करने में मेरा जी भी नहीं घिनाता है ॥ ९१ ॥

ऐसा सोचकर ज्यों ही मैं फिर अन्तर्मुख होने लगा कि उसी समय मेरे सामने एक दूसरा शुभ विचार उपस्थित हो गया ॥ ९२ ॥

भूयः किं कर्त्तुमिच्छामि प्राप्तव्यं वाऽपि किं मया ।
किमप्राप्तं मया कुत्र कदा वा प्राप्यते कथम् ॥ ९४ ॥
अप्राप्तस्यापि सम्प्राप्तिः कथं सत्या हि सम्भवेत् ।
अहोऽनन्तचिदानन्दरूपे मे स्यात् कथं क्रिया ॥ ९५ ॥
देहेन्द्रियान्तःकरणान्यपि स्वप्नसमानि वै ।
ममैव तानि सर्वाणि त्वखण्डैकचिदात्मनः ॥ ९६ ॥
तत्रैकमन्तःकरणं निरुध्यापि च किं भवेत् ।
अन्यान्यप्यनिरुद्धानि मनांसि च ममैव हि ॥ ९७ ॥
तथा चैकस्य मनसो निरोधे मम किं भवेत् ।
निरुद्धान्यनिरुद्धानि मनांसि मयि भान्त्यलम् ॥ ९८ ॥
निरोधे सर्वमनसामपि मे न निरोधनम् ।
महाकाशात् सुवितते कुतो मयि निरोधनम् ॥ ९९ ॥
एवं पूर्णानन्दरूपे समाधिः स्यात् कथं मयि ।
चिदानन्दप्रपूर्णस्य पूर्णस्य गगनादपि ॥ १०० ॥
मम क्रिया कथं का स्याद्द्वयाऽपि शुभाशुभा ।
अनन्तेषु शरीरात्माभासेषु मन्महित्वतः ॥ १०१ ॥

मैं सोचने लगा — हाय, मेरे मन में यह मोह कैसा ? मेरी आत्मा तो खुद आनन्द-मय है । वही तो मैं हूँ । मुझमें क्या कमी है ? मैं क्या करना चाहता हूँ ? मुझे अब और क्या पाना है ? ऐसी कौन वस्तु है जो मुझे नहीं मिली है और वह मुझे कब, कहाँ और कैसे मिलेगी ? ॥ ९३-९४ ॥

कभी जो चीज पाई ही नहीं, उसका पाना क्या सच हो सकता है ? मेरा रूप ही तो ज्ञान और आनन्द मय है । मुझसे कोई क्रिया कैसे सम्पन्न होगी ? ॥ ९५ ॥

देह, इन्द्रिय और मन भी तो सपने की तरह सब झूठे हैं । मैं ही तो पूर्ण ब्रह्म हूँ । ये सभी तो मेरे ही हैं ॥ ९६ ॥

फिर एक अन्तःकरण की रोक से क्या होगा ? दूसरे बिना रोके मन भी तो मेरे ही रहेंगे ॥ ९७ ॥

इस तरह एक मन को रोकने से मुझे क्या लाभ होगा ? मुझमें तो अनेक मन रोके तथा बिना रोके दिखलाई पड़ते हैं ॥ ९८ ॥

यदि सब मनों को एक साथ रोक लिया जाय तब भी मेरी रोक तो होगी नहीं । मैं तो व्यापक महाकाश हूँ । मेरी रोक कैसे संभव होगी ? ॥ ९९ ॥

इस तरह पूर्ण आनन्दस्वरूप मेरी समाधि कैसे होगी ? मैं तो पूर्ण ब्रह्म हूँ तथा आकाश से भी अधिक व्यापक हूँ । फिर मैं कोई शुभ या अशुभ काम कैसे कर सकता हूँ ? ॥ १०० ॥

मेरी ही महिमा से बेहद देह और आत्मा दीख रही है । फिर किसी क्रिया के

क्रियाभासावभासेन तदभावेन वाऽपि किम्।
कर्त्तव्यं वाप्यकर्त्तव्यं मम नास्त्यपि लेशतः ॥ १०२ ॥
तस्मान्निरोधने किं स्यादहमानन्दनिर्भरः।
समाधावसमाधौ वा सत्यपूर्णस्वभावकः ॥ १०३ ॥
यस्यां क्रियायां देहोऽयं स्थितस्तत्रैव तिष्ठतु।
इत्यहं सर्वथा स्वस्थः सुमहानन्दमन्दिरः ॥ १०४ ॥
अनस्तमितभारूपोऽहं सुपूर्णो निरञ्जनः।
उत्तमाधिकृतस्यैवं स्थितिर्मे सम्प्रकीर्तिता ॥ १०५ ॥
अधमानामनेकैस्तु जन्मभिर्ज्ञानजं फलम्।
मध्यमानान्तु क्रमतः श्रवणं च विचारणम् ॥ १०६ ॥
अनुध्यानं च भवति ततो ज्ञानं प्रजायते।
विज्ञानफलसंयुक्तसमाधिर्दुर्लभो भवेत् ॥ १०७॥
विज्ञानफलहीनेन किं समाधिशतेन वा।
तस्माद्विज्ञानहीनैस्तैः फलं नास्ति समाधिभिः ॥ १०८ ॥
लोकेऽपि गच्छन् मार्गेषु निर्विकल्पप्रकाशितान्।
भावानविज्ञाय तेषामज्ञानं न निवर्त्तते ॥ १०९ ॥

दीखने या न दीखने से मुझमें क्या फर्क पड़ता है? इसलिए मेरे लिए न कोई कर्त्तव्य है और न अकर्त्तव्य ही ॥ १०१-१०२ ॥

इस तरह मैं तो स्वयं आनन्द से भरा हूँ। अतः रोक लगाने से ही मुझे क्या लाभ होगा? मेरी समाधि लगे या न लगे मैं तो सत्यस्वरूप एवं परिपूर्ण हूँ ॥१०३॥

मेरी यह देह जिस काम में लगी है उसी में लगी रहे। ऐसा सोचकर मैं तो हमेशा अपने रूप में स्थित तथा परम आनन्द से परिपूरित रहता हूँ। मैं तो अखण्ड प्रकाशस्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ, निर्मल हूँ ॥ १०४३ ॥

इस तरह उत्तम अधिकारी के रूप में मैंने अपनी स्थिति का वर्णन किया। जो अधम कोटि के अधिकारी हैं, उन्हें ज्ञान का फल अनेक जन्मों के बाद मिलता है। बचे मध्यम अधिकारी, तो उन्हें श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान होता है ॥ १०५–१०६ ॥

विशिष्ट ज्ञान रूप फल देने वाली समाधि तो दुर्लभ होती है। फिर जिस समाधि से विशिष्ट ज्ञान न मिले, ऐसी सैकड़ों समाधियाँ लगती रहे तो इससे क्या फर्क पड़ता है? व्यावहारिक स्थिति में लगने वाली समाधियों से मुक्ति रूपी फल तो कभी भी नहीं मिलता ॥ १०७–१०८ ॥

राह चलते देखा जाता है कि कुछ लोगों को जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में उसकी कोई कल्पना नहीं होती है, ऐसी वस्तु भी अनमने ढंग से देख लेते हैं। पर उन

निर्विकल्पाख्यविज्ञानं ज्ञानमात्रं निजं वपुः।
तत् सर्वदा भासमानमप्यभातविधं ननु ॥ ११० ॥
विकल्पाच्छादनादेव विकल्पानां व्यपोहने।
भासमानमेव भूयो भातकल्पमपूर्वतः ॥ १११ ॥
ज्ञानज्ञेयाविभेदेन त्वज्ञातं ज्ञातमुच्यते।
एवमेष भवेदात्मविज्ञानक्रम उत्तमः ॥ ११२ ॥
ब्रह्मन्नेवं श्रुतं भूयो विचार्यं ज्ञातुमर्हसि।
अथ विज्ञायात्मतत्त्वं कृतार्थस्त्वं भविष्यसि ॥ ११३ ॥
जनकेनैवमादिष्टस्त्वष्टावक्रो महामुनिः।
पूजितस्त्वभ्यनुज्ञातो गत्वा स्वस्थानमादरात् ॥ ११४ ॥
विचारानुध्यानपूर्वं विज्ञाय परमं पदम्।
विधूय सर्वसन्देहान् जीवन्मुक्तोऽभवद् द्रुतम् ॥ ११५ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टावक्रीये सप्तदशोऽध्यायः।

वस्तुओं की जानकारी नहीं रहने के कारण उनके अज्ञान की निवृत्ति तो नहीं हो जाती ॥ १०९ ॥

निर्विकल्प ज्ञान तो शुद्ध ज्ञान ही है और वह व्यक्ति का अपना स्वरूप ही है। वह हमेशा चमकते रहने के बावजूद विकल्पों से ढके रहने की वजह से दिखलाई नहीं पड़ता। उन विकल्पों से छुटकारा मिलने के बाद पहले से प्रकाशित रहने के बावजूद नया जैसे लगता है ॥ ११०–१११ ॥

शुद्ध ज्ञान और उससे प्रकाशित होने वाला ज्ञेयपदार्थ का भेद न जानने के कारण जो आत्मतत्त्व पहले अज्ञात था वही अब ज्ञात कहा जाता है। यही आत्मतत्त्व का उत्तम क्रम है ॥ ११२ ॥

ब्रह्मन्! आपने जो यह आत्मज्ञान का क्रम सुना है, इस पर बार-बार विचार करने पर आपको भी ज्ञान हो सकता है। फिर ज्ञान प्राप्त करके आप धन्य हो जायेंगे ॥ १०३ ॥

इस प्रकार अष्टावक्र मुनि ने जनक से उपदेश प्राप्त किया, फिर जनक ने पूजा करके उन्हें विदा किया। इसके बाद अपनी कुटिया में लौट कर आदरपूर्वक मनन और निदिध्यासन कर उस परम पद को जान लिया। उनका सारा संदेह दूर हो गया और उन्हें जीवन्मुक्त पद मिल गया ॥ ११४–११५ ॥

सतरहवाँ अध्याय समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

भार्गवैवं हि सा संविद्वेद्यवन्ध्या निरूपिता ।
उपलब्धिदशा तस्या बहुधा संश्रुता ननु ॥ १ ॥
अव्युत्पत्त्या न जानन्ति जना मायाविमोहिताः ।
सा दशा भाव्यते सूक्ष्मदृशैव नान्यथा क्वचित् ॥ २ ॥
किं बहूक्तेन ते राम शृणु सारं ब्रवीम्यहम् ।
मनसा वेद्यते वेद्यं मनसोऽतो न वेद्यता ॥ ३ ॥
तथा च वेद्यनिर्मुक्तं मनोऽप्यस्तीति सम्भवेत् ।
तन्मनो वेद्यनिर्मुक्तवित्तिरित्यभिधीयते ॥ ४ ॥
उपलब्धिस्वरूपत्वाद्विदितैव हि सा सदा ।
अन्योपलब्ध्यपेक्षायामान्ध्यं स्यादनवस्थितेः ॥ ५ ॥
किञ्चिद्भावं हि सम्पश्यन्न भासि किमु भार्गव ।
न भासि चेन्न त्वमसि ततः प्रश्नस्तु ते कथम् ॥ ६ ॥

(जनक और अष्टावक्र के संवाद का शेष भाग)

दत्तात्रेय ने परशुराम से कहा — इस तरह मैंने इस जानने योग्य वस्तु के अभाव में शुद्ध ज्ञान का निरूपण किया और तुमने भी व्यवहार में उसकी उपलब्धि की अनेक स्थितियों के बारे में भी जानकारी हासिल की ॥ १ ॥

किन्तु माया से मोहित लोगों की समझ में यह बात नहीं आती है, इसीलिए वह इस पद को पहचान नहीं पाता । अन्तर्मुख, सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति को ही उस स्थिति का सही ज्ञान होता है, किसी अन्य को नहीं ॥ २ ॥

सुनो परशुराम ! अधिक कहने से क्या फायदा ? इसका मुख्य अभिप्राय मैं बतलाता हूँ । मन से तो समझने लायक बातें समझी जाती हैं, अतः मन की जानकारी नहीं होती ॥ ३ ॥

किन्तु दिखाई न देने पर भी मन तो रहता है, इतना निश्चित है । बस, यह जानकारी से परे मन ही 'शुद्धचेतन' कहा जाता है ॥ ४ ॥

वह ज्ञानस्वरूप है, इसलिए हमेशा प्रकाशमान ही है । यदि इसे पाने में दूसरों का सहारा माना जाय तो अनवस्था का दोष होगा और हर जगह अन्धकार ही जायगा ॥ ५ ॥

हे परशुराम ! किसी भी पदार्थ को देखते समय क्या तुम्हें अपना भान नहीं होता ? यदि नहीं होता तो तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है, फिर तुम यह प्रश्न कैसे करते हो ? ॥ ६ ॥

अहो स्वयं खपुष्पात्मा सन् कथं हि तमिच्छसि ।
कथं तवात्मानमहं साधयामि विभावय ॥ ७ ॥
सामान्येन विभान्तं मां न जानामि विशेषतः ।
इति चेद्राम सामान्यमेव ते रूपमव्ययम् ॥ ८ ॥
विशेषलेशरहितमेतावद्ध्येव ते वपुः ।
अहो जानन्नपि पुनरलं मुह्यसि वै वृथा ॥ ९ ॥
भासकं सर्वमपि च विशेषविषयं भवेत् ।
अतः सामान्यरूपस्त्वं विभासि स्वत एव हि ॥ १० ॥
शरीराद्यात्मना भासि चेच्छृणु प्रब्रवीमि ते ।
शरीरात्मतया भासि सङ्कल्पेनैव नान्यथा ॥ ११ ॥
विभावय सूक्ष्मदृशा सङ्कल्पेऽन्यस्य देहतः ।
भाति किं तव देहत्वं देहस्तच्चापि ते भवेत् ॥ १२ ॥

अजी ! यदि तुम असंभाव्य कल्पना की तरह तुम असत्य हो, तो फिर तुम अपने को जानना क्यों चाहते हो ? जरा सोचो तो, मैं तुम्हारे स्वरूप को सिद्ध कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ७ ॥

यदि तुम यह कहो कि मैं सामान्य रूप से तो दीखता हूँ, पर विशेष रूप से अपने-आपको नहीं जानता, तो यह तुम्हारा सामान्य रूप ही तो अविनाशी स्वरूप है ॥ ८ ॥

जिसमें किसी तरह के विशेष का थोड़ा भी अंश नहीं है, वही तो तुम्हारा असली रूप है । आश्चर्य है कि इस प्रकार अपने को जानते हुए भी तुम बेकार ही भ्रान्ति पाल रहे हो ॥ ९ ॥

सबको प्रकाशित करने वाला ज्ञान भी विशेष-विषयक होता है । अतः तुम तो केवल सामान्य रूप हो और स्वयं ही प्रकाशमान हो ॥ १० ॥

विशेष—हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त होते ही प्रज्ञा बन जाती है । विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है । स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही तो प्रज्ञा है । इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है और न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है । यह स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना है । घट-पट आदि विषयों से सम्बद्ध ज्ञान उन्हीं से निरूपित भी होता है । इसलिए घट-विषयक, पट-विषयक ज्ञान विशेष-विषयक कहा जाता है । स्वरूपभूत शुद्ध ज्ञान तो विषय-विवर्जित है । अतः इसे सामान्य ज्ञान कहते हैं और ज्ञान मात्र होने के कारण स्वयं प्रकाश्य भी है ।

यदि यह कहो कि देह के रूप में मैं दिखलाई देता हूँ, तो सुनो—देह रूप से तुम तो देह का संकल्प होने पर ही दीखते हो, अपने-आप नहीं ॥ ११ ॥

गहरी नजर से विचारो—जब देह के अलावा किसी दूसरी वस्तु से तुम्हारा संकल्प जुटता है तो देह रूप में तुम क्या अपने-आपको देख पाते हो ? यदि देह

एवं सङ्कल्प्यते यद्यच्छरीरं तत्तदेव हि।
तेन सर्वमयस्त्वं स्याः कथं देहात्ममात्रकः॥ १३॥
तस्माद् दृश्यं तव वपुर्न हि स्याद्व्यभिचारतः।
तस्माद् दृङ्मात्ररूपोऽसि न दृग् दृश्या कदाचन॥ १४॥
सा स्वप्रभा दृश्यरूपविशेषलेशवर्जिता।
देहदेशकालभेदचित्रवैचित्र्यचित्रिता॥ १५॥
तस्मात् सङ्कल्पमात्रस्य वर्जनात् परतः स्थितम्।
शेषं शुद्धचिते रूपं स्वात्मानमुपलक्षय॥ १६॥
एवं सकृल्लक्षिते तु यत् स्थितं तदलक्षणात्।
अज्ञानं सर्वसंसारकारणं तद्विलीयते॥ १७॥
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
सङ्कल्पवर्जनाच्छुद्धस्वरूपस्य प्रथैव सः॥ १८॥
स स्वरूपात्मकत्वात्तु नाऽप्राप्तः स्यात् कदाचन।
केवलं मोहमात्रस्य निरासेन कृतार्थता॥ १९॥

के साथ सम्बन्ध होने के नाते उसे ही तुम अपना रूप मानते हो तो सम्बन्ध के नाते बहुत सारी वस्तुओं को तुम अपना रूप मानने लगोगे॥ १२॥

इस तरह तुम जिस-किसी वस्तु का संकल्प करोगे, वही तुम्हारी देह सिद्ध होगी। इस तरह तो तुम बहुरूपिया बन जाओगे, फिर केवल एकमात्र देह कैसे रहोगे?॥ १३॥

अतः कोई भी वस्तु तुम्हारा असली रूप नहीं बन सकती। क्योंकि सभी दृश्य-जगत् परिवर्त्तनशील हैं। तुम ज्ञान मात्र हो और ज्ञान का कभी कोई विषय नहीं होता॥ १४॥

तुम्हारा स्वरूप बना ज्ञान तो स्वयं प्रकाश है। उसमें ज्ञेय रूप विशेष का तो लेश मात्र भी नहीं है। देश, काल देहादि भेद रूप चित्र की विचित्रता से ही तो भासित हैं॥ १५॥

अतः संकल्प मात्र को छोड़ देने पर जो सर्वाधिक शुद्धचेतन का स्वरूप शेष रह जाता है, उसे ही तुम अपनी आत्मा जानो॥ १६॥

इस तरह जब एक बार उस आत्मा की झलक मिल जाती है तो उसमें दीखने वाली देह आदि पर आँख न रहने के कारण सारी दुनिया का कारण अज्ञान अपने-आप समाप्त हो जाता है॥ १७॥

'मुक्ति' न आकाश में मिलती है, न पाताल में और न तो इस धरती पर ही। वह तो बस संकल्प अर्थात् किसी वस्तु को पाने का पक्का इरादा भर छोड़ देने से जो शुद्ध स्वरूप की स्थिति है, वही मुक्ति या मोक्ष है॥ १८॥

वह तो अपना ही रूप है। अतः उसके खोने या पाने का सवाल ही पैदा नहीं होता, सिर्फ सांसारिक मोह छोड़ देने भर से ही सफलता मिल जाती है॥ १९॥

अन्यो मोक्षो न सम्भाव्यः कृतकत्वाद्विनाश्यते।
स्वरूपादतिरिक्तश्चेच्छशशृङ्गसमो हि सः॥ २०॥
स्वरूपं सर्वतः पूर्णमन्यो मोक्षः क्व सम्भवेत्।
स्वरूपे सम्भवन् मोक्षो दर्पणप्रतिबिम्बवत्॥ २१॥
लोकेऽपि बन्धविगमादृते मोक्षो न भावितः।
विगमोऽभाव एव स्यात् सत्यो भावात्मकः कथम्॥ २२॥
भावाभावात्मकं वस्तु न हि सम्भवति क्वचित्।
तथा च स्वाप्नभावाश्च भावाभावोभयात्मकाः॥ २३॥
सत्याः स्युर्बाधहेतोस्ते त्वसत्या इति चेच्छृणु।
बाधोऽभावप्रत्ययः स्यात् प्रत्ययाभावकालिकः॥ २४॥
यस्यैवं बाधयोगः स्यात् सोऽसत्यो न हि चेतरः।
अस्ति सर्वस्य दृश्यस्य बाधोऽप्रत्ययकालिकः॥ २५॥
तस्मादसत्यमेव स्यात् भावाभावात्मना स्थितम्।
यस्याभावस्पर्शलेशः कदाचित् कुत्रचिन्नहि॥ २६॥

इसके सिवा किसी और मोक्ष की कल्पना ही असंभव है। क्योंकि वह क्रिया साध्य होने के कारण नाशवान् है। दूसरी बात यह भी कि यदि वह अपने रूप से कुछ भिन्न हुआ तो वह खरगोश के सींग की तरह झूठ ही तो होगा॥ २०॥

अपना रूप तो सभी ओर से भरा-पूरा है, फिर इससे अलग मोक्ष हो भी क्या सकता है? यदि उसे अपना स्वरूप ही मान लिया जाय तो वह आईने में परछाई की तरह उससे अलग नहीं है॥ २१॥

लोकजीवन में भी बन्धन से छुटकारा के सिवा 'मोक्ष' और कुछ नहीं माना गया। छुटकारा का रूप तो 'अभाव' ही है, अतः अभावात्मक बन्धन की निवृत्ति भाव रूप कैसे हो सकती है?॥ २२॥

संसार में किसी भी वस्तु का रूप सच और झूठ एक साथ होना तो कभी संभव नहीं है। यदि कहो कि सपने की बात तो सच और झूठ दोनों तरह एक साथ होती है। क्योंकि सपने की बात जब मिल जाती है तब सच होती है और जगने पर बाधित होने से झूठ भी होती है, तो सुनो—॥ २३½॥

किसी वस्तु की प्रतीति न होने के समय अभावात्मक जो प्रतीति होती है, उसी का नाम बाध है। जिसका इस तरह बाध से सम्बन्ध रहता है, वही वस्तु झूठ होती है, कोई दूसरी नहीं॥ २४½॥

अनिश्चयात्मक ज्ञान के समय दुनिया की हर वस्तु की पहचान में रुकावट तो होती ही है। अतः किसी वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व की स्थिति में सारा दृश्यजगत् ही झूठ है॥ २५½॥

लेकिन जिसे कभी किसी भी दशा में कोई अभाव छू भी नहीं सकता, ऐसा

एवंविधन्तु चित्तत्त्वं सत्यं सर्वात्मना स्थितम् ।
तस्माद्विभिन्नमोक्षस्तु न सत्यः स्यात् कथञ्चन ॥ २७ ॥
मोक्षः पूर्णस्वरूपस्यासकृत् प्रथनमुच्यते ।
चेत्यवर्जनमात्रेण चितिः पूर्णा प्रकीर्त्तिता ॥ २८ ॥
चेत्याभासनमेवास्याश्चितेः सङ्कोचनं भवेत् ।
चेत्याभाने चितिः पूर्णा परिच्छेदविवर्जनात् ॥ २९ ॥
कालादिभिः परिच्छेदो यदि तस्या निरूप्यते ।
अचेतितः परिच्छेदश्चेतितो वा भवेद्वद ॥ ३० ॥
अचेतने ह्यसिद्धः स्याच्चेतने सैव व्यापिका ।
लोके कालपरिच्छिन्नो भावो यः कोऽपि भावितः ॥ ३१ ॥
भावकालौ परिच्छेद्यपरिच्छेदकतां गतौ ।
चिता व्याप्तौ भवेतां वै यदा तर्हि तथाविधौ ॥ ३२ ॥
अव्याप्तौ तु चिता यर्हि कथं सिद्धयेत् परिच्छिदिः ।
चितेर्बहिर्यदा चेत्यमस्ति तत् स्यात् परिच्छिदिः ॥ ३३ ॥

चेतनतत्त्व तो हर तरह से हमेशा सत्य ही है । उससे अलग जो मोक्ष होगा, वह भला सच हो भी कैसे सकता है ? ॥ २६–२७ ॥

उस पूर्णस्वरूप परमात्मा का मन में निरन्तर स्फुरण का ही नाम 'मोक्ष' है । चेत्य पदार्थों के परित्याग से ही चेतन की पूर्णता मानी जाती है ॥ २८ ॥

चेत्य अर्थात् सांसारिक पदार्थों का जहाँ परिदर्शन है, वहीं चेतन अर्थात् ज्ञान-स्वरूप आत्मा का संकोचन है । बाहरी वस्तुओं का आभास मिटते ही आवरण हट जाता है, फिर जो बचता है, वही पूर्ण आत्मा है ॥ २९ ॥

यदि कोई यह कहे कि कालादि से उस चेतन का विभाजन हो सकता है तो यह बतलाओ कि वह विभाजन उस विभक्त चेतन से प्रकाशित होगा या अप्रकाशित ॥३०॥

यदि वह चेतन से अप्रकाशित होगा तब तो उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती है और यदि प्रकाशित होगा तब तो वह व्यापक चेतन ही होगा । लोक में जो भी काल से विभाजित होगा, उसमें उस पदार्थ और काल का विभाज्य और विभाजक रूप सम्बन्ध रहता है । किन्तु वे पदार्थ और काल दोनों ही तो उस चेतन से व्याप्त रहते हैं, तभी तो वे उस रूप में दीख पड़ते हैं ॥ ३१–३२ ॥

यदि वे चेतन से पूरित न हों तो उनका विभाजन कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि उसका विभाजन तो तभी हो सकता है यदि उससे बाहर कोई चेत्य पदार्थ हो ॥३३॥

विशेष—चेतन से परिपूरित न होने का अर्थ है—चेतन से प्रकाशित न होना । जो वस्तु, भाव या सम्बन्ध चेतन से प्रकाशित न हो उसका भान किसे होगा ? और यदि उसका बोध किसी को नहीं होता तो उसकी सत्ता कैसे सिद्ध होगी ?

चितेर्बहिश्चेत्यसिद्धिः सर्वथा नोपपद्यते ।
यो बहिः स कथं सिद्धयेच्चितिसम्बन्धवर्जितः ॥ ३४ ॥
सम्बन्धोऽपि नैकदेशः स्यादसिद्धस्तथेतरः ।
तत्सम्बन्धांशमात्रस्य भानादन्यन्न सिद्धयति ॥ ३५ ॥
अतो बहिः पदार्थोऽपि चितिनिर्मग्न इष्यताम् ।
एवं च सर्वात्मनैव मग्नं चेत्यमपीष्यताम् ॥ ३६ ॥
कथं स्वान्तर्विनिर्मग्नं स्वपरिच्छेदकं भवेत् ।
चेत्यमेवंविधं राम विचारय सुयुक्तितः ॥ ३७ ॥
चितेरन्तर्भासमानं प्रतिबिम्बात्मकं भवेत् ।
न भावोदरगो भावो भवन् लोके सुदृश्यते ॥ ३८ ॥
भावानां स्याद्धि साङ्कर्यं तथा चेद्राम सर्वतः ।
बहिः पदार्थस्ते प्रोक्तो भ्रममूलो हि सर्वथा ॥ ३९ ॥
तदाश्रयाणां भावानां कथं स्यात् सत्यता वद ।
चितिस्वरूपः स्वात्मैव तत्तद्भावात्मना सदा ॥ ४० ॥
भासते स्वाच्छन्द्यशक्त्या नाधिकं विद्यते क्वचित् ।

किन्तु इस चेतन से बाहर अन्य पदार्थ की सत्ता तो किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि जो बाहर है, वह उसके सम्बन्ध के बिना कैसे सिद्ध होगा ? ॥ ३४ ॥

वह चेत्य और चेतन का सम्बन्ध किसी एक क्षेत्र में नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो चेत्य के अन्य भाग की सिद्धि तो नहीं हो सकती। सम्बन्धित उस भाग का बोध होने से ही तो दूसरा भाग सिद्ध नहीं हो जाता ॥३५॥

अतः बाहरी पदार्थों को भी इस चेतन में ही डूबा समझो। इसी तरह चेत्यसमूह को भी सर्वथा चेतन के भीतर ही अनुभव करो ॥ ३६ ॥

परशुराम ! युक्तिपूर्वक जरा विचार करो—जो चेत्य अपने में ही डूबा है वह अपना ही विभाजक कैसे हो सकता है ? ॥ ३७ ॥

जो वस्तु चेतन के भीतर दिखलाई देती है, वह उसकी परछाई ही तो सकती है, क्योंकि दुनिया में किसी एक वस्तु के भीतर रहनेवाली कोई दूसरी वस्तु देखी नहीं जाती ॥ ३८ ॥

परशुराम ! यदि ऐसा माना जाय तो हर जगह पदार्थों का घोटाला हो जायेगा। मैं पहले तुम्हें बतला चुका हूँ कि बाहरी दुनिया की समस्त चीजें भ्रामक हैं। तो फिर बतलाओ, बाहरी वस्तु के आधार पर टिकी वस्तु की सच्चाई सिद्ध कैसे होगी ? ॥ ३९ ॥

अतः चेतनस्वरूप अपनी आत्मा ही अपनी बेनियाज ताकत के बल पर इन समस्त बाहरी वस्तुओं के रूप में भासती रहती है। उससे अलग तो कुछ है ही नहीं ॥४०½॥

इति वाक्यं समाकर्ण्य पुनः पप्रच्छ भार्गवः ॥ ४१ ॥
भगवन् भवता प्रोक्तं दुर्घटं प्रतिभाति मे ।
शुद्धा चितिर्विचित्रैका भासते इत्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥
चितिश्चेत्यमिति द्वेधा वस्तु सर्वैर्विभावितम ।
तत्र चेत्यं चिता भास्यं स्वप्रभा चितिरस्तु वै ॥ ४३ ॥
यथा लोकभातमपि वस्तु तद्भिन्नमस्ति वै ।
एवं चिता भासितं तु चेत्यमस्तु पृथग्विधम् ॥ ४४ ॥
चेत्यं चिदात्मकमिति नानुभूतिं समारुहेत् ।
अथ च प्रागभिहितं जनकेन महात्मना ॥ ४५ ॥
सङ्कल्पवर्जनादेव निर्विकल्पं मनो भवेत् ।
तदेव निर्विकल्पं स्याज्ज्ञानं संसारनाशनम् ॥ ४६ ॥
तदेव ह्यात्मनो रूपमित्युक्तं तत् कथं भवेत् ।
आत्मनो हि मनः प्रोक्तं करणं ज्ञानकर्मणि ॥ ४७ ॥
मनो यद्यात्मनो न स्याद्विशिष्येत जडात् कथम् ।
मनो जडाद्विशेषः स्यादात्मनो भगवन्ननु ॥ ४८ ॥
मनसैव हि बन्धः स्यान्मोक्षो वाऽप्यात्मनः स्फुटम् ।
सविकल्पं मनो बन्धो मोक्षः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ ४९ ॥

गुरु दत्तात्रेय की बातें सुनकर परशुराम ने फिर उनसे पूछा—भगवन् ! आपने जो कुछ कहा, ये बातें मेरे गले के नीचे नहीं उतरतीं । 'अकेला शुद्धचेतन अनेक रूपों में बाहर झलक रहा है' ऐसा कैसे हो सकता है ? ॥ ४१–४२½ ॥

चेतन और चेत्य ये दो तत्त्व तो सर्वमान्य हैं । इनमें चेतन से ही चैत्य प्रकाशित होता है । अतः चेतन का स्वयं प्रकाशित होना निश्चित है ॥ ४३ ॥

जैसे दुनिया की प्रकाशित होनेवाली हर वस्तु प्रकाशक से अलग होती है, ठीक उसी तरह चेतन से प्रकाशित चेत्य का उससे अलग होना भी ठीक ही है । किन्तु 'चेत्य चेतन का स्वरूप है' यह बात समझ में नहीं आती ॥ ४४½ ॥

इसके सिवा महात्मा जनक ने जो पहले कहा कि संकल्प छोड़ देने से ही मनुष्य का मन निर्विकल्प हो जाता है । दुनिया से छुटकारा दिलाने वाला यही निश्चयात्मक निर्विकल्प ज्ञान है और यही आत्मा का असली रूप भी है । ऐसा कैसे हो सकता है ? क्योंकि ज्ञानरूप क्रिया में मन तो आत्मा का कारण कहा गया है ॥ ४५–४६ ॥

यदि आत्मा के पास मन न हो तो जड़ से चेतन का अलगाव कैसे होगा ? भगवन् ! आत्मा का जो जड़ से भेद है उसका कारण यह मन ही तो है ॥ ४८ ॥

और यह भी साफ जाहिर है कि मन की वजह से ही आत्मा का बन्धन और मुक्ति है । सविकल्प मन आत्मा का बन्धन और निर्विकल्प मन आत्मा का मोक्ष है ॥ ४९ ॥

तत् कथं मन एवात्मा करणं हि मनः स्मृतम् ।
निर्विकल्पस्य संसिद्धावपि द्वैतं तु शिष्यते ॥ ५० ॥
अथापि लोके दृष्टोऽस्ति यस्य भ्रान्तिरसन् हि सः ।
न हि भ्रान्तिरसत्या स्यात् तदद्वैतं कथं भवेत् ॥ ५१ ॥
अर्थक्रिया न क्वचिच्च दृष्टासत्येन वस्तुना ।
सर्वं हि जागतं वस्तु स्थिरमर्थक्रियाकरम् ॥ ५२ ॥
तदसत्यं कथं ब्रूहि यतोऽद्वैतं प्रसिद्ध्यति ।
सर्वं च भ्रान्तिविज्ञानं भ्रान्त्यभ्रान्तिभिदा कथम् ॥ ५३ ॥
भ्रान्तिः सर्वसमा वापि कथं स्याद् ब्रूहि मे गुरो ।
सन्देह एष विततो हृदि मे परिवर्त्तते ॥ ५४ ॥
इत्येवं प्रश्नमाकर्ण्य दत्तात्रेयः समस्तवित् ।
साधुप्रश्नप्रहृष्टात्मा प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५५ ॥
राम साधु त्वया पृष्टं प्रोक्तप्रायमिदं पुनः ।
यावन्न मनसस्तोषस्तावद् भूयो विशोधयेत् ॥ ५६ ॥

ऐसी स्थिति में मन आत्मा तो हो ही नहीं सकता । उसका करण ही तो मन हो सकता है । यदि निर्विकल्प मन मुक्ति का कारण हो भी तो भी आत्मा और मन का अस्तित्व अलग-अलग कबूल करना ही पड़ेगा ॥ ५० ॥

दुनिया में ऐसा देखा जाता है कि जिसकी भूल होती है, वह झूठ होता ही है । खुद भूल तो अपने-आपमें झूठ होती नहीं । ऐसी स्थिति में दो को भाव अर्थात् द्वैत का अभाव कैसे हो सकता है ? ॥ ५१ ॥

विशेष—यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अँधेरे में चलते राही को राह में पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर उसे साँप समझने की भूल होती है, तो उस समझदारी में साँप झूठ होता है, भूल होने की घटना तो झूठ नहीं होती । अतः यहाँ भी द्वैत का अभाव नहीं होता ।

वस्तु जो झूठ होती है, उससे कभी मतलब का काम तो निकलता नहीं । किन्तु दुनिया की सभी वस्तुएँ तो स्थिर हैं और उनसे काम भी चलता ही रहता है ॥ ५२ ॥

आप ही बतलाओ, जिससे उस बेजोड़ ब्रह्म की सिद्धि हो वह झूठ कैसे हो सकता है ? यदि सारा ज्ञान भ्रान्ति अर्थात् पागलपन ही है तो धोखा और सही का भेद भी कैसे होगा ? ॥ ५३ ॥

मेरे गुरुजी ! कृपया आप यह भी बतला दें कि यह भ्रम या धोखा सबको एक ही तरह क्यों लगता है ? मेरे दिल में यह भारी सन्देह चक्कर काट रहा है ॥ ५४ ॥

शिष्य का ऐसा सुन्दर सवाल सुनकर सर्वज्ञ दत्तात्रेय को बड़ी खुशी हुई । फिर उन्होंने कहना शुरू किया ॥ ५५ ॥

परशुराम ! तुमने सुन्दर सवाल किया है । यद्यपि इसका जवाब कहा जा चुका

गुरुर्वापि कथं ब्रूयादपृष्टस्तन्मनोगतम् ।
प्राणिनां हि बुद्धिभेदात् तर्कः पृथगवस्थितः ॥ ५७ ॥
अपृष्ट्वा स्वस्वाऽभिमतं कः सन्देहाद्विमुच्यते ।
प्रष्टुर्विद्या हि सुदृढा प्रश्नो बीजं निरूपणे ॥ ५८ ॥
अप्रष्टुर्नैव विद्या स्यात् पृष्ट्वा विद्याततो गुरुम् ।
चितिरेकैव वैचित्र्याद्भासते इति सम्भवेत् ॥ ५९ ॥
एकरूपो यथाऽऽदर्शः प्रतिबिम्बादनेकधा ।
पश्य स्वाप्नविकल्पादौ मन एकं हि केवलम् ॥ ६० ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यात्मवैचित्र्येण विभाति हि ।
एवं शुद्धैव सा संविद्विचित्राकारभासिनी ॥ ६१ ॥
चितिश्चेत्यमिति द्वेधा स्वप्नेऽपि हि विभासते ।
आलोकमन्तरा त्वन्धो भावं जानाति वै ननु ॥ ६२ ॥
अन्धस्याभासमानश्च रूपं भाति स्मृतौ किल ।
नैवं चितेरभाने किं कदा कुत्र विभासते ॥ ६३ ॥

है, फिर भी जब तक अपने मन को संतोष न हो जाय तब तक इस पर विचार तो करना ही चाहिए ॥ ५६ ॥

इस तरह यदि पूछा न जाय तो शिष्य के मन में छिपे संदेह को गुरु कैसे मिटा सकते हैं ? जीवों की बुद्धि अनेक तरह की होती है । अतः उनके समाधान के लिए अलग-अलग युक्तियाँ भी होती हैं ॥ ५७ ॥

अतः अपने मन में उठे संदेह के बारे में बिना पूछे उससे छुटकारा भला किसे और कैसे मिल सकता है ? विद्या तो पूछनेवाले की ही पक्की होती है । सच पूछो तो प्रश्न ही निरूपण का बीज है । जो पूछता नहीं, वह ज्ञान नहीं पाता, अतः जिज्ञासु बनकर ही तो गुरु से ज्ञान पाना चाहिए ॥ ५८½ ॥

एक ही चैतन्य अनेक रूपों में झलक रहा है; यह बात इस तरह सम्भव है— आईने का रूप तो एक ही है, पर उसमें झलकनेवाली परछाईयाँ तो अनेक हैं ॥५९½॥

देखो, सपने में और मन की दुनिया में केवल एक मन ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि अनेक रूपों में दीखता है । सपने में भी चिति और चेत्य ये दो भेद तो दीखते ही हैं । (यदि यह दुविधा सपने में झूठ है तो जगने पर क्यों नहीं ?) ॥ ६०–६१½ ॥

(तुम्हारा कथन है कि प्रकाश की तरह प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों का अस्तित्व है । सो बात ठीक नहीं है, क्योंकि घड़े-कपड़े आदि तो आँख या प्रकाश न रहने पर भी दूसरे साधनों से दीख जाते हैं । जैसे—)

अन्धा आदमी प्रकाश की अपेक्षा किये बिना किसी वस्तु को छूकर जान ही लेता है तथा अन्धे आदमी को रूप का आभास न होने पर भी स्मृति में उसकी प्रतीति तो होती ही है । किन्तु चेतन के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती है,

यथाऽऽदर्शं विना किञ्चित् प्रतिबिम्बं न भाति वै ।
आदर्शान्नातिरिक्तोऽतः प्रतिबिम्बो भवेद्यथा ॥ ६४ ॥
एवं चितिमृते किञ्चिदतिरिक्तं न विद्यते ।
अत एव मनोऽप्यन्यत् सर्वथा नास्ति वै चितेः ॥ ६५ ॥
यथा स्वप्ने मनस्तद्वज्जाग्रत्यपि मनो न हि ।
कल्पितं कार्यसंसिद्ध्यै करणं केवलं मनः ॥ ६६ ॥
यथा स्वाप्नः कुठारः स्यात् करणं तरुच्छेदने ।
राम क्रियाऽसत्यरूपा सत्यं तत् करणं कथम् ॥ ६७ ॥
असता नरशृङ्गेण कः कदा सुविदारितः ।
तस्मान्नास्ति मनो राम चासत्कार्यस्य कारणम् ॥ ६८ ॥
स्वप्ने दृशिः क्रिया कार्यं कारणं मन उच्यते ।
यथा तथा सर्वदापि मनो नास्ति क्रियाकरम् ॥ ६९ ॥
चिदात्मा केवलः स्वच्छः स्वाच्छन्द्यान्मन आदिकम् ।
परिकल्प्य व्यवहरेत् दृश्यद्रष्ट्रादिभेदतः ॥ ७० ॥

क्योंकि चेतन की प्रतीति न होने पर भला कब किसी को कहीं किसी वस्तु का ज्ञान हुआ है ? ॥ ६२–६३ ॥

जैसे आईने के बिना कोई परछाई नहीं बनती और इसी से जैसे आईने से अलग परछाई है ही नहीं, उसी तरह चेतन के बिना और चेतन से भिन्न कुछ भी है ही नहीं । अतः मन भी चेतन से अलग है ही नहीं ॥ ६४–६५ ॥

जैसे सपने में मन नहीं है, उसी तरह जगने पर भी मन का अलग अस्तित्व नहीं है । सपने की तरह जगने पर भी काम चलाने के लिए कारण रूप से मन की कल्पना हो जाती है ॥ ६६ ॥

सपने में पेड़ काटने के लिए जैसे सपने की ही कुल्हाड़ी होती है । परशुराम ! यदि सपने का काम झूठ है तो उसका साधन सच कैसे हो सकता है ? ॥ ६७ ॥

आदमी को सींग होता ही नहीं । फिर किसी आदमी के सींग से कोई कैसे विदीर्ण हो सकता है ? अतः परशुराम ! सपने में किसी झूठे काम का साधन मन कैसे होगा ? ॥ ६८ ॥

सपने में जैसे आँख की शक्ति ही कुछ करने की चेष्टा, कोई काम या कारण के रूप में मन कहलाती है; उसी तरह हर समय जगने पर भी क्रिया का सम्पादक मन ही नहीं होता ॥ ६९ ॥

केवल विशुद्ध ज्ञानरूपी आत्मा ही अपनी बेनियाज ताकत से मन की कल्पना कर कभी तो देखनेवाला और कभी दृश्य के रूप में व्यवहार करता है और कभी केवल स्थिर भाव से अपने स्थान पर ठहर जाता है ॥ ७०½ ॥

क्वचित् क्वचित् केवलं तु निर्विकल्पात्मना स्थितः ।
शृणु भार्गव चित्तत्त्वं परिपूर्णमपि स्वयम् ॥ ७१ ॥
नाकाशतुल्यं चैतन्यात् स्वप्रकाशमतः स्थितम् ।
आकाशश्च चिदात्मा च न विलक्षणतां गतौ ॥ ७२ ॥
पूर्णः सूक्ष्मो निर्मलश्चाजोऽनन्तोऽपि निराकृतिः ।
सर्वाधारोऽप्यसङ्गात्मा सर्वान्तरबहिर्भवः ॥ ७३ ॥
विशेषस्तत्र चैतन्यमाकाशे तन्न विद्यते ।
वस्तुतश्चैतन्यपूर्ण आत्मैवाकाश उच्यते ॥ ७४ ॥
नह्यात्माकाशयोर्भेदो लेशतोऽपि हि विद्यते ।
य आकाशः स आत्मैव यश्चात्माऽऽकाश एव सः ॥ ७५ ॥
अज्ञाः पश्यन्त्यात्मरूपमाकाशमिति वै भ्रमात् ।
सौरालोकं यथोलूकस्तमोमात्रं प्रपश्यति ॥ ७६ ॥
आकाशमेव विज्ञास्तु पश्यन्त्यात्मचिदात्मकम् ।
परा चितिः परेशानी स्वच्छस्वातन्त्र्यवैभवात् ॥ ७७ ॥
अवभासयदात्मानं परिच्छिन्नमनेकधा ।
यथा राम स्वमात्मानं स्वप्ने बहुविधं पृथक् ॥ ७८ ॥
मनुष्यादिविभेदेन भासयत्येवमेव हि ।
अनेकधावभासोऽपि परिच्छिन्नदृशैव हि ॥ ७९ ॥

सुनो परशुराम ! ज्ञानतत्त्व अपने-आपमें परिपूर्ण होने के बावजूद आकाश की तरह शून्य या जड़ नहीं है । इसीसे वह स्वयंप्रकाश भी है । इसके सिवा आकाश और ज्ञानरूपी आत्मा में कोई और भेद नहीं है ॥ ७१–७२ ॥

आकाश की तरह यह ज्ञानरूपी आत्मा भी परिपूर्ण, बारीक, स्वच्छ, अजन्मा, अनन्त, निराकार, सबका आधार, निर्लिप्त और सबके भीतर-बाहर रहनेवाला है । इसमें विशेषता केवल चैतन्य की ही है, आकाश में यह गुण नहीं है । वास्तव में चेतना से भरा आकाश ही आत्मा कहलाता है ॥ ७३–७४ ॥

इसके सिवा आकाश और आत्मा में और कोई भेद नहीं है । जो आकाश है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही आकाश है ॥ ७५ ॥

नासमझ लोग भ्रमवश आत्मा के स्वरूप को ही आकाश के रूप में देखते हैं । जैसे उल्लू सूर्य की रोशनी को अन्धेरा के रूप में देखा करता है ॥ ७६ ॥

समझदार लोग तो आकाश को ही चेतन आत्मा के रूप में देखते हैं । भगवती दुर्गा अपनी बेनियाज ताकत के बल से ही अपने रूप को अनेक तरह से मर्यादित रूपों में प्रकट करती हैं । जिस प्रकार हे परशुराम ! सपने में अनेक रूपों में वह अपने-आपको ही तो प्रकट करती है ॥ ७७–७८½ ॥

स्वयं स्वदृष्टया पूर्णात्मरूपिण्येव परा चितिः ।
ऐन्द्रजालिक एकोऽपि स्वमात्मानमनेकधा ॥ ८० ॥
भासयंस्तत्र द्रष्टृणां स्वदृष्टया भासयेत् स्वयम् ।
एक एव निर्विकार एवं सा परमा चितिः ॥ ८१ ॥
शुद्धैकरूपभासापि परिच्छिन्ना ह्यनेकधा ।
परिच्छिन्नस्वरूपाणां भासयेन्मायया वृता ॥ ८२ ॥
मायावरणमप्येतत् परिच्छिन्नदृशो भवेत् ।
यथैन्द्रजालिको मायावृतश्चान्यदृशो भवेत् ॥ ८३ ॥
मायापरचितोऽत्यन्तं स्वातन्त्र्यमतिदुर्घटम् ।
लोकेऽपि योगिनोऽन्ये च मान्त्रिका ऐन्द्रजालिकाः ॥ ८४ ॥
आच्छादितं स्वस्वातन्त्र्यं प्राप्य किञ्चित् सुयुक्तितः ।
दुर्घटं घटयन्त्येव ततो नैतद्विचित्रितम् ॥ ८५ ॥
एवं परचितेः स्वच्छस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनो वपुः ।
अनेकधा परिच्छिन्नं भासितं भृगुनन्दन ॥ ८६ ॥
परिच्छेदोऽभिमानस्य त्वेकदेशे सुविश्रमः ।
साऽप्यपूर्णत्वविख्यातिर्याऽविद्या परिगीयते ॥ ८७ ॥

उसका यह अनेक रूपों में दिखलायी पड़ना भी मर्यादित दृष्टि से ही है। अपने-आपकी नजर में तो वह पराचिति परिपूर्ण आत्मा के रूप में ही है ॥ ७९½ ॥

जैसे जादूगर अकेला रहने के बावजूद अपने-आपको दर्शकों के बीच अनेक रूपों में प्रकाशित करने पर भी अपनी नजर में तो वह अकेला ही रहता है ॥ ८०½ ॥

इसी तरह वह पराचिति एक और परिवर्तन एवं विकारविहीन है तथा अपनी दृष्टि में शुद्ध एक रूप में ही दीखती हैं, फिर भी माया से ढकी होने पर वह मर्यादित होकर अनेक मर्यादित रूपों में दीखने लगती हैं ॥ ८१–८२ ॥

उसका यह माया रूप आवरण भी मर्यादित दृष्टि वालों के लिए ही है, जैसे जादूगर दूसरों की नजर में ही जादू से ढका है ॥ ८३ ॥

उस पराशक्ति की बेनियाज ताकत ही उसकी माया है। यह असम्भव को संभव में बदल देती है। संसार में भी योगी एवं मन्त्रवेत्ता थोड़ी-सी क्षुद्र ताकत पाकर अनहोनी करके दिखला देते हैं; फिर उस पराशक्ति के लिए यह कोई विचित्र बात नहीं है ॥ ८४–८५ ॥

हे परशुराम ! इस तरह वह पराशक्ति अपनी पवित्र स्वतंत्रता के कारण ही अपना रूप अनेक तरह से मर्यादित होकर बदलती रहती है ॥ ८६ ॥

अहंकार का कहीं एक जगह टिक जाना ही उसका विभाजन है। वही अधूरी बुद्धि भी है, जिसे अविद्या नाम से कहा जाता है ॥ ८७ ॥

अत्र मुह्यन्ति बहवस्तार्किकाः पण्डिता अपि ।
स्वात्मानमनुदाहृत्य बहिर्दृष्टितया स्थितेः ॥ ८८ ॥
गुरूपदिष्टं यत् किञ्चित् सद्वाप्यसदथीतरत् ।
अनुदाहृत्य चात्मानं यावन्न ह्यवलोकयेत् ॥ ८९ ॥
तावन्न फलमाप्नोति परोक्षात्मतया श्रुतेः ।
अतो मयोक्तं राम त्वं सम्पश्यात्मनि सद्दृशा ॥ ९० ॥
चितिर्या परमा देवी सर्वसामान्यरूपिणी ।
सा प्रकाशमयी यस्माज्जडव्यावृत्तरूपिणी ॥ ९१ ॥
अतः स्वात्मनि विश्रान्तिस्त्वहन्ता पररूपिणी ।
जडाश्चिदात्मविश्रान्ताश्चिदात्मनि विभासतः ॥ ९२ ॥
न स्वरूपे स्वतो भान्ति तस्मान्न स्वात्मविश्रमः ।
चितेस्तु केवलं स्वस्मिन्ननन्यापेक्षया सदा ॥ ९३ ॥
भासमानत्वतः स्वस्मिन् विश्रान्तिरुपपद्यते ।
पूर्णाहन्ता परा सेयं या जडेषु न विद्यते ॥ ९४ ॥
व्यावृत्तिः स्पर्शहीनेयं परिच्छेदविवर्जनात् ।
सर्वमस्यां यतः संस्थमादर्शे नगरं यथा ॥ ९५ ॥

अपनी आत्मा का अनुसंधान न करने तथा बाहरी दृष्टि से देखने-विचारने के कारण इस विषय में अनेक तार्किक और पण्डितों को भी भ्रम हो जाता है ॥ ८८ ॥

गुरुजी ने अच्छा-बुरा या किसी दूसरी तरह से जो कुछ बतलाया है, उसे जब तक आत्मानुसंधान के माध्यम से परख न लिया जाय तब तक केवल सुनने से मोक्ष नहीं मिल जाता। अतः परशुराम ! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है उस पर भीतरी आँखों से देखकर विचार करो ॥ ८९–९० ॥

दुनिया की हर चीज में उसके खास हिस्से को छोड़कर सामान्य रूप से दिखलायी देने वाली वस्तु तो वह पराशक्ति चिति ही है। वहाँ जो कुछ प्रकाश है, वह उसी का रूप है। उसमें जड़ता का बिलकुल निषेध है ॥ ९१ ॥

अतः वह अपने रूप में 'विश्रान्ति' स्वरूपा है और पराहन्तारूपिणी है। उस पराशक्ति में जड़पदार्थ विश्रान्त है, चिदात्मा के आश्रय से ही उसका बोध होता है ॥ ९२ ॥

वह अपने स्वरूप में खुद प्रकाशित नहीं होती। इसलिए अपने-आप में विश्रान्ति नहीं है। केवल शुद्धचिति ही अपने-आप में विश्रान्ति लेती है, क्योंकि उसे किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है। वह अपने स्वरूप में आप प्रकाशित हैं। यही श्रेष्ठ पूर्णाहन्ता है, जो जड़पदार्थों में नहीं है ॥ ९३–९४ ॥

अतः यह आवरण हर तरह से अलगाव रहित है। इसे भेद छू तक नहीं गया है। क्योंकि आईने में प्रतिबिम्बित नगर की तरह सब कुछ इसी में दीख रहा है ॥ ९५ ॥

व्यावृत्तिर्वा परिच्छेदः कथं केन हि सम्भवेत् ।
एवं पूर्णस्वरूपायाः पूर्णं यत्स्फुरणं स्थितम् ॥ ९६ ॥
तदेव स्वात्मविश्रान्तिः पूर्णाहन्ता च कथ्यते ।
अखण्डैकरसं ह्येतदेतावद्राम वै भवेत् ॥ ९७ ॥
निरूपणे बहुविधमिव तत् प्रतिभासते ।
एतावदेव स्वातन्त्र्यं यतः शक्तिर्हि तन्मयी ॥ ९८ ॥
प्रकाशस्तेजसो यद्वदौष्ण्यं चैवापृथक् स्थितम् ।
एवं स्वातन्त्र्यविश्रान्तिसहितैकरसात्मिका ॥ ९९ ॥
इयमेव हि मायाख्या शक्तिः परमदुर्घटा ।
आदर्शवद्यत्स्वरूपे चिदेकरसरूपिणी ॥ १०० ॥
सत्यप्यनेकवैचित्र्याभासनेन विभासते ।
तथा भासनकालेऽपि स्वरूपादनिवर्त्तनम् ॥ १०१ ॥
परिच्छेदावभासो यः सोऽनात्माभास उच्यते ।
साऽविद्या जडशक्तिः सा शून्यं प्रकृतिरेव च ॥ १०२ ॥
अत्यन्ताभाव आकाशस्तमः प्रथमसर्गकः ।
सर्वं तदेव सम्प्रोक्तं परिच्छेदनमादिमम् ॥ १०३ ॥
राम यः परिपूर्णात्मा विभ्रमो वै सनास्थितः ।
तस्यैकदेशताभ्रान्तिकृतमाकाशभासनम् ॥ १०४ ॥

यह आवरण या अलगाव किसी के द्वारा कैसे संभव है ? यह अपने-आप में पूर्णस्वरूपा है। यह पूरी तरह स्फुरित है। यह अपनी आत्मा में विश्रान्ति या पूर्णाहन्ता कही जाती है। परशुराम ! ऐसी यह चिति सचमुच अखण्ड और एक-रस है ॥ ९६–९७ ॥

वह केवल चर्चा के समय ही अनेक रूप में दीखने लगती है। यही उसकी आजादी है। उसकी बेनियाज ताकत भी उसी की तरह है ॥ ९८ ॥

जैसे आग में रोशनी और गर्मी उससे अलग नहीं रहती, उसी तरह वह स्वतंत्रता और विश्रान्ति के साथ एकरस है ॥ ९९ ॥

यही वह मायाशक्ति है जो असंभव को भी संभव कर दिखाती है। यह चिद्रूपा आईने की तरह अपने स्वरूप में एकरस रहने के बावजूद अनेक विचित्र परछाई के रूप में दीखने लगती है और इस अवलोकन काल में भी अपने रूप से अलग नहीं होती ॥ १००–१०१ ॥

इसमें जो अलगाव का बोध होता है वही अनात्माभास अर्थात् जड़त्व की प्रतीति भी कहलाती है। यही अविद्या, जड़शक्ति, शून्य और प्रकृति भी कहलाती है ॥१०२॥

उसका यह पहला बिभाजन ही एकान्त अभाव अर्थात् सत्ता की नितान्त शून्यता, आकाश, तप और पहला प्रकरण कहा जाता है ॥ १०३ ॥

अत आत्मप्रदेशो य आत्माभिमतिवर्जितः ।
आकाशः स हि सम्प्रोक्तः स हि संसारकारणम् ॥ १०५ ॥
एष एव भवेद्भेदः पशुदृष्टयैकगोचरः ।
राम सूक्ष्मदृशा पश्य य आकाशस्त्वयेक्ष्यते ॥ १०६ ॥
तत्रत्यजीवराशीनामात्मा चैतन्यमेव सः ।
यथान्यदेहेष्वाकाशो भासते यः सदा तव ॥ १०७ ॥
स एव तेषामात्मा स्याच्चिदानन्दघनात्मकः ।
एवं स्वकल्पिताकाशग्रस्तं यच्चिद्वपुः स्थितम् ॥ १०८ ॥
तदेव मन इत्युक्तमात्मैव न हि चेतरत् ।
तत्रावरणमुख्यत्वात् प्रमाणं मन उच्यते ॥ १०९ ॥
आवृतप्राधान्यतस्तु प्रमाता जीव उच्यते ।
एवमाकाशावृतोऽपि चिदात्मा भूय एव तु ॥ ११० ॥
आकाशे कोमलेऽत्यन्तशिथिले निर्घनेऽमले ।
कठिनश्लिष्टघनतामालिन्यानां प्रकल्पनैः ॥ १११ ॥
भूतान्याभास्य देहात्मा देहेनापि समावृतः ।
कुम्भोदरगतो दीप उदरं व्याप्य भासते ॥ ११२ ॥

परशुराम ! इसकी जो पूर्णाहन्ता रूप विश्रान्ति है, उसी में एकदेशता की भ्रान्ति होने से आकाश की प्रतीति होने लगती है ॥ १०४ ॥

अतः आत्मा का जो अंश अहम्भाव से रहित है, उसे ही आकाश कहते हैं और वही संसार का कारण है ॥ १०५ ॥

यह आकाश ही नासमझों की नजर में भेद है। परशुराम ! इस पर तुम गहरी दृष्टि से विचार करो। तुम जो यह आकाश देखते हो, वही तो उसमें रहने वाले जीव-समूह की चैतन्य आत्मा है ॥ १०६½ ॥

जैसे दूसरों की देह में जो आकाश दीखता है, वही उनकी ज्ञान और आनन्दमय आत्मा है और तुम्हारी भी हमेशा वही आत्मा है ॥ १०७½ ॥

इस तरह जो ज्ञानस्वरूप हमारे बनावटी आकाश से भरा है वही हमारा मन कहा गया है और वही आत्मा भी है और कोई दूसरी नहीं ॥ १०८½ ॥

परदा डालनेवाली जड़शक्ति की प्रधानता के कारण उसे प्रमाणरूप मन कहा गया है और उससे ढकी रहनेवाली ज्ञानशक्ति की प्रधानता के कारण वही प्रमाता जीव कहलाता है ॥ १०९½ ॥

इस तरह आकाश से ढकी हुई भी यह आत्मा फिर पञ्चभूतों से ढक जाती है। आकाश अतिकोमल, शिथिल, विरल और निर्मल है; किन्तु उसमें कठिनता, कसावट, सघनता और मलिनता की कल्पना से पञ्चभूत प्रकट होते हैं। इस तरह देह से घिरी

एवमेष शरीरान्तरवभासनमात्रकः ।
आस्ते गूढप्रदीपात्मा तदन्तर्मात्रभासनः ॥ ११३ ॥
दीपप्रभा घटच्छिद्राद्यथा निर्याति वै बहिः ।
एवमक्षद्वारमुखाद् भूयो निर्याति वै चितिः ॥ ११४ ॥
निर्याणं तु चितेर्नास्ति पूर्णत्वादक्रियत्वतः ।
स्वात्मावरणमाकाशं स्फूर्त्तिशक्तिश्चिदात्मनः ॥ ११५ ॥
यावन्निवारयेत्तावन्निर्याणं प्रविभासते ।
मनोव्यापार एष स्यात् स्फूर्त्यपहतिरावृतेः ॥ ११६ ॥
तस्माद्राम मनो नान्यदात्मैव मन उच्यते ।
चला चितिर्मनोनाम्नी निश्चलात्मस्वरूपिणी ॥ ११७ ॥
आवृत्यभिहतिः स्फूर्त्या चलनं राम वै चितेः ।
एतदेव विकल्पः स्याद्विकल्पपरिवर्जने ॥ ११८ ॥
निर्विकल्पं पूर्णरूपं विज्ञानं मुक्तिनामकम् ।
राम त्यजात्र सन्देहं विकल्पस्य विवर्जने ॥ ११९ ॥
अप्यावरणदोषः स्यादिति नास्त्येव चावृतिः ।
आवृतिर्न हि सत्यास्ति यतः स्वेनैव कल्पिता ॥ १२० ॥

यह देहात्मा घड़े के भीतर रखे दिए की तरह देह के भीतर फैलकर प्रकाशित होने लगती है ॥ ११०–११२ ॥

इस तरह यह आत्मा देह के भीतरी भाग को ही प्रकाशित करती है। घड़े के भीतर रखा दीपक जैसे उसके भीतरी भाग को ही प्रकाशित करता है ॥ ११३ ॥

जैसे घड़े के छेद से छनकर दिए की रोशनी बाहर निकलती रहती है, उसी तरह यह ज्ञानरूपी आत्मा इन्द्रिय रूपी दरवाजे से बाहर निकलने लगती है ॥११४॥

चेतन अपनी पूर्णता और क्रियाहीनता के कारण कहीं आ-जा नहीं सकता। किन्तु चिदात्मा की चेतनशक्ति जब अपने आवरण आकाश को अलग हटा देती है, तब उसका निकलना साफ झलकने लगता है। चेतन के द्वारा इस आवरण को हटाना ही मन का काम है ॥ ११५–११६ ॥

इसलिए परशुराम ! मन कोई दूसरी वस्तु नहीं है, आत्मा ही तो मन है। चंचल चेतन मन है और निश्चल चेतन आत्मा है ॥ ११७ ॥

चितिशक्ति के स्फुरण से आवरण का हटना ही चेतन का चलना है। यही विकल्प है। विकल्प छोडते ही निर्विकल्प पूर्ण जो विज्ञान बच जाता है, वही मुक्ति है ॥ ११८½ ॥

हे परशुराम ! तुम यह संदेह छोड़ दो कि विकल्प छोड़ने के बाद फिर आवरण-दोष हो सकता है। क्योंकि यह आवरण तो बनावटी या मनगढ़ंत है, इसमें वास्त-विकता बिलकुल ही नहीं है ॥ ११९–१२० ॥

यथा मनोरथे बद्धः केनचिच्छत्रुणा स्वयम् ।
ताड्यमानस्तर्ज्यमानो यावत् सङ्कल्पवर्जनम् ॥ १२१ ॥
कुर्यात्तावत्ताडनं वा तर्जनं वापि लीयते ।
किं तत्र शिष्यते बन्धस्तथात्रापि विभावय ॥ १२२ ॥
अनादिकालाद्रामात्र बन्धो नास्त्येव कस्यचित् ।
जडात्मभ्रान्तिमुत्सृज्य कोऽयं बन्धो विचारय ॥ १२३ ॥
एष एव महाबन्धो बन्धसत्यत्वनिश्चयः ।
मृषा भीतस्य बालस्य यक्षग्रह इव स्थितः ॥ १२४ ॥
यावद्बन्धभ्रान्तिमेनां नोत्सृजेद् बुद्धिमानपि ।
न तावत् संसृतेर्मुक्तो भवेत् क्वापि महोद्यमैः ॥ १२५ ॥
कोऽयं बन्धः कथं वा स्यान्निर्मलस्य चिदात्मनः ।
प्रतिबिम्बात्मकैः स्वात्मादर्शान्तःप्रविभावितैः ॥ १२६ ॥
बन्धो यदि तदादर्शप्रतिबिम्बाग्निरादहेत् ।
बन्धस्य सत्यताबुद्धिर्मनसोऽस्तित्वनिश्चयः ॥ १२७ ॥
एतद्द्वयमृते नास्ति बन्धः कस्यापि कुत्रचित् ।
यावदेतद्द्वयमलं सद्विचारमहाजलैः ॥ १२८ ॥

ठीक उसी तरह जैसे कोई मन-ही-मन सोचे कि कोई दुश्मन उसे बाँधकर पीट रहा है और धमका भी रहा है। किन्तु मन से इस चिंतन को हटाते ही ताड़न-तर्जन का उसका सारा डर मिट जाता है। इसके बाद भी क्या वहाँ कोई बंधन बच जाता है? इसी तरह यहाँ भी समझो ॥ १२१–१२२ ॥

परशुराम! शुरू से ही इस दुनिया में किसी का कोई बंधन नहीं है। इस जड़मूल को भूलकर विचार करो कि वास्तव में बन्धन है क्या? ॥ १२३ ॥

इस बन्धन को सच मान लेना ही सबसे बड़ा बंधन है। बच्चे को डराने वाले झूठे हौए की तरह यह डर है ॥ १२४ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति भी जब तक इस भ्रान्ति को छोड़ नहीं देता तब तक घोर प्रयास के बाद भी उसे संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती है ॥ १२५ ॥

यह बन्धन क्या है? इस पवित्र आत्मा को, जो ज्ञानस्वरूप है, उसे यह बन्धन कैसे हो सकता है? यदि अपनी आत्मारूपी आईने में दीखनेवाली परछाईं से इसे बंधन हो सकता है, तब तो आईने में दीखनेवाली आग की परछाईं से भी आग लगनी चाहिए ॥ १२६½ ॥

'बन्धन को सच मानना' और 'मन का अस्तित्व कबूल करना' इन दोनों को छोड़कर कहीं किसी के लिए और कोई बन्धन नहीं है ॥ १२७½ ॥

जब तक सुन्दर विचाररूपी पवित्र पानी से इन दो गन्दगियों को कोई धो नहीं डालेगा तब तक मैं क्या? ब्रह्मा, विष्णु, महेश या साक्षात् विद्यास्वरूपिणी भगवती

नोन्मार्जितं तावदिह तस्य संसारनाशनम् ।
अहं वा ब्रह्मदेवो वा विष्णुर्वापि च शङ्करः ॥ १२९ ॥
विद्यात्मिका वा त्रिपुरा नैव शक्ताः कथञ्चन ।
तस्माद्राम द्वयञ्चैतत् परित्यज्य सुखी भव ॥ १३० ॥
तस्माद्राम निर्विकल्परूपे मनसि संस्थिते ।
आत्ममात्रत्वतस्तस्य द्वैतं न परिशिष्यते ॥ १३१ ॥
इदं तदितिरूपेण भासनान्यन्मनो नहि ।
इदमादिपरित्यागे मनसात्मैव शिष्यते ॥ १३२ ॥
रज्जुसर्पपरिभ्रान्तिः सत्याभिमतवस्तुनि ।
रज्जुरूपे हि सर्पस्य भासिनीति विनिश्चयः ॥ १३३ ॥
तत्र सर्पस्य बाधोऽपि रज्ज्वालम्बनहेतुतः ।
चिद्रूपादात्मनोऽन्यत्तु रज्जुज्ञानं स्थितं भवेत् ॥ १३४ ॥
सापि रज्जुश्चिति यदा स्वप्नदृष्टान्तकल्पिता ।
रज्जुबाधे हि तज्ज्ञानं कथं शिष्येत् किमाश्रयम् ॥ १३५ ॥
तस्माद् दृश्यस्य बाधे तु तज्ज्ञानं केवला हि दृक् ।
चिदात्मानतिरिक्तत्वाद् द्वैतं तेन कथं भवेत् ॥ १३६ ॥

त्रिपुरा खुद भी उसे संसार के बंधन से छुड़ा नहीं सकती। अतः हे परशुराम ! तुम इन दोनों को छोड़कर सुखी बनो ॥ १२८–१३० ॥

अतः हे परशुराम ! समाधि में मन बिलकुल स्थिर हो जाता है। वहाँ दो का भाव मिट जाता है। केवल आत्मा अपने स्वरूप में शेष बच जाती है ॥ १३१ ॥

'यह' और 'वह' के रूप में दीखने के सिवा मन और कुछ है ही नहीं। मन से यह और वह निकल जाने के बाद जो बचता है, वह आत्मा ही तो है ॥ १३२ ॥

डोरी को साँप समझने की भूल की तरह ही सांसारिक चीजों को सच मानने की भूल है। इससे यही निश्चय होता है सांसारिक वस्तु डोरी में साँप समझने की तरह एक भ्रम है ॥ १३३ ॥

रस्सी में साँप का तो बाध हो जाता है, क्योंकि साँप का आधार तो डोरी ही होती है। पर बाध नहीं होने के कारण चिद्रूप आत्मा से रस्सी का ज्ञान अलग होता है ॥ १३४ ॥

लेकिन जब सपने के उदाहरण से वह डोरी भी चेतन में मनगढंत मानी जाय, तब उस डोरी का बाध होने पर भी उसका ज्ञान किस तरह और किस आधार पर टिकेगा ? ॥ १३५ ॥

अतः दृश्य जगत् का बाध होने पर उसका ज्ञान केवल ज्ञानमात्र ही रहता है। यह उस ब्रह्म से भिन्न है ही नहीं, फिर दो का भाव टिकेगा कैसे ? ॥ १३६ ॥

अर्थक्रिया हि सन्दृष्टा स्वप्नवस्तुषु सुस्थिरा।
स्वाप्नवस्तु स्थिरमिति स्वप्ने सर्वैर्विभावितम् ॥ १३७ ॥
एतावानेव भेदः स्यात् स्वप्नजाग्रद्विभासयोः।
जाग्रति स्वप्नमिथ्यात्वनिश्चयो भवति ध्रुवम् ॥ १३८ ॥
स्वप्ने न जायते जाग्रन्मिथ्यात्वस्य विनिर्णयः।
नैतावतैव सत्यत्वं जाग्रद्व्यवहृतेर्भवेत् ॥ १३९ ॥
यथा जाग्रति वस्तूनां स्थिरतार्थक्रियापि च।
दृश्यते किं तथा स्वप्ने दृश्यते न हि वा वद ॥ १४० ॥
न स्वप्ने जागरा भावाः स्वाप्ना वा नैव जागरे।
अर्थक्रियाकरा वापि स्थिरा वा भान्ति तत्समम् ॥ १४१ ॥
विभावय सूक्ष्मदृशा को भेदोऽतीतस्वप्नयोः।
पश्यैन्द्रजालिककृते स्थैर्यमर्थक्रियामपि ॥ १४२ ॥
किं तावतैव तत् सत्यमैन्द्रजालिकनिर्मितम्।
सत्यासत्यविभागो वै प्राकृतैर्विदितो न हि ॥ १४३ ॥
अत एव मोहितास्ते प्रोचुः सत्यं हि जागतम्।
कदाप्यभावासंस्पृष्टं सत्यं राम प्रचक्षते ॥ १४४ ॥

कार्य-निर्वाह की दृष्टि से सपने की चीजों में भी तो स्थिर कार्य की निर्वाहकता देखी जाती है। सपने में सपने की चीजें तो सबको स्थिर ही जान पड़ती है ॥१३७॥

सपने और जगने के समय की समझदारी में इतना अन्तर तो जरूर है कि जगने पर सपने की बात तो झूठ लगती है, किन्तु सपने में जगने की बात तो झूठ नहीं लगती। बस, इतने भर से जाग्रत् काल के व्यवहार की सच्चाई तो सिद्ध नहीं होती ॥ १३८–१३९ ॥

जगे रहने पर जैसे किसी चीज की स्थिरता और कार्यनिर्वाहकता प्रतीत होती है, तुम्हीं बतलाओ, क्या सपने में सपने की वस्तु भी उसी तरह नहीं लगती है? ॥१४०॥

हाँ, सपने में जगने की चीज और जगने पर सपने की चीज न तो कार्य-निर्वाहक जान पड़ते हैं और न स्थिर ही। सो यह बात दोनों स्थितियों में समान ही है ॥ १४१ ॥

जरा गहराई से सोचो, जाग्रत् अवस्था की बीती हुई घटनाओं में और सपने की घटनाओं में क्या अन्तर है? देखो, जगे रहने पर भी एक बाजीगर की करामात में स्थिरता भी रहती है और कार्यनिर्वाहकता भी। तो क्या इतने से ही उसकी बनाई चीजें सच हो सकती हैं? ॥ १४२½ ॥

इस सच और झूठ का भेद साधारण लोग नहीं जानते हैं। इसी से मोहवश वे जाग्रत् अवस्था की हर चीज को सच मानते हैं ॥ १४३½ ॥

परशुराम! सच तो वह है जिसे कभी अभाव मन को छूता नहीं। अभाव तो

अभावः स्यादभानाद्वै त्वभानं न चितेः क्वचित् ।
अभानमचितामस्ति ह्यनेकत्वावभासतः ॥ १४५ ॥
परस्पराभावभासा अचिद्भावा हि सर्वथा ।
चिदभानं कदा कुत्र स्याद्राम प्रविचारय ॥ १४६ ॥
यदा चितिर्न भायाद्वै तदा भायात् कथं वद ।
न भायाद्वा कथं भायादभाने यदि तद्द्वयोः ॥ १४७ ॥
राम भायादेव चितिस्तस्मात् सत्यैव सा चितिः ।
राम सत्यासत्यभेदं शृणु सङ्क्षेपतो ब्रुवे ॥ १४८ ॥
अन्यानपेक्षभासं स्यात् सत्यमन्यदसत्यकम् ।
अन्यथा रज्जुसर्पाद्यमपि सत्यं भवेन्ननु ॥ १४९ ॥
बाधो ह्यभावविज्ञानं तद्भावेऽपि हि सम्भवेत् ।
अभावे भावविज्ञानमपि सम्भवति स्फुटम् ॥ १५० ॥

तब होता है जब उसे उसका बोध नहीं होता । चिति का अभाव तो कभी नहीं होता और अभाव तो अचेतन दृश्य पदार्थों का ही होता है, क्योंकि उनमें अनेकता झलकती है ॥ १४४–१४५ ॥

दुनिया की हर वस्तु बिलकुल एक-दूसरे के अभाव में ही दीख पड़ती है । किन्तु परशुराम ! विचार तो करो—भला चेतन का अभाव कब और कहाँ हो सकता है ? ॥ १४६ ॥

विशेष—परस्परावभास कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे 'कार' और 'स्कूटर' दोनों दो वस्तु है । इनका बोध परस्पर एक-दूसरे के अभाव में ही होता है । अर्थात् कार के अभाव में स्कूटर का और स्कूटर के अभाव में ही कार का बोध होता है । एक के अवलोकन में दूसरे के अवलोकन का अभाव रहता ही है ।

जब चेतन का ज्ञान नहीं होगा तब उस काल का भी बोध कैसे होगा ? यदि कहो, 'नहीं बोध होगा' तो उस काल और चेतन दोनों अबोध का ज्ञान भी कैसे होगा ? ॥ १४७ ॥

अतः हे परशुराम ! चेतन तो चमकता ही रहता है, इसलिए वही सच है । राम ! सच और झूठ का भेद मैं तुम्हें संक्षेप में समझाता हूँ ॥ १४८ ॥

जो दूसरे की अपेक्षा किये बिना स्वयं प्रकाशित हो, वही सच है, बाकी सब झूठ । नहीं तो रस्सी में कल्पित साँप को भी सच मानना पड़ेगा ॥ १४९ ॥

विशेष—यदि सच और झूठ का ऐसा लक्षण न कर यह मानें कि जिसका बाध या अभाव हो जाय वह झूठ और जिसका बाध या अभाव न हो वह सच; तो बोध के समय में तो रस्सी में मनगढन्त साँप का भी न अभाव होता है और न बाध, अतः इसे भी तो सच ही मानना होगा ? अतः सबसे निर्दोष लक्षण ऊपर कथित ही हो सकता है ।

ततो न बाधितं सत्यमसत्यं बाधितं भवेत् ।
इति पक्षो न युक्तः स्यात् सर्वथा व्यभिचारतः ॥ १५१ ॥
चितोऽभाने न किञ्चित् स्यान्न स्यात्तदपि सर्वथा ।
तस्माद्यश्चिन्न भातीति वदेत् तार्किकसत्खरः ॥ १५२ ॥
स ब्रूयान्नाहमस्मीति तत्र केन किमुच्यते ।
यस्यात्मनि स्यात् सन्देहो भानाभावेन सर्वदा ॥ १५३ ॥
सोऽन्येषां नाशयेन्मोहं निपुणैस्तर्कगुम्फनैः ।
तदा गण्डशिलाप्येषाऽप्यन्यमोहं विनाशयेत् ॥ १५४ ॥
तस्मादर्थक्रियाभासमात्रेण न हि सत्यता ।
सर्वमेव हि विज्ञानं भ्रान्तिरेव न संशयः ॥ १५५ ॥
अपरेयं महाभ्रान्तिस्तेष्वभ्रान्तत्वनिश्चयः ।
यथा हि बाधविज्ञानात् पूर्वं भ्रान्तिर्भवेत्तथा ॥ १५६ ॥
सर्वजागृतविज्ञानमभ्रान्तिरिव हि स्थितम् ।

अभाव की अनुभूति को 'बाध' कहते हैं ; बाध की अनुभूति 'भाव' और 'अभाव' दोनों की स्थिति में हो सकती है। अभाव में भी साफ तौर पर भावरूप की अनुभूति हो जाती है ॥ १५० ॥

विशेष—बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जो वस्तु मौजूद है उसके न होने की भ्रान्ति हो जाती है और जो नहीं है उसके होने का बोध होता है। अतः यह पक्ष निर्विवाद नहीं है।

अतः यह कहना "जो बाधित नहीं है वह सच है और जो बाधित है वह झूठ है" यह पक्ष बिलकुल ठीक नहीं है, क्योंकि इसका व्यभिचार भी देखा जाता है ॥ १५१ ॥

यदि चेतन का ज्ञान न हो तब तो कुछ भी नहीं रहेगा। यहाँ तक कि 'कुछ नहीं है' का भी ज्ञान नहीं होगा। अतः तार्किक मूर्ख का ही ऐसा कथन होगा कि चेतन प्रकाशित नहीं होता है। यह कहना तो मानो ऐसा है जैसे कोई कहे 'मैं नहीं हूँ'। ऐसी स्थिति में कौन क्या कह रहा है? इसका ज्ञान भी आवश्यक है ॥ १५२½ ॥

अतः जिसे बोध नहीं होने के कारण हमेशा अपने अस्तित्व में ही सन्देह हो, वह तो अपने कुशल तर्क से निश्चय ही दूसरे के अज्ञान को नष्ट कर देगा? अर्थात् कभी नहीं। ऐसे कुतार्किक से अगर अज्ञान नष्ट हो तो पत्थर से भी अज्ञान नष्ट हो सकता है ॥ १५३–१५४ ॥

अतः जिसमें काम करने की क्षमता प्रतीत हो, उसकी 'सच्चाई' इतने से ही सिद्ध नहीं हो जाती। इसमें सन्देह नहीं कि इस तरह के सभी ज्ञान 'भ्रमपूर्ण' हैं तथा उन्हें भ्रम नहीं मानना—यह दूसरी बहुत बड़ी भूल है ॥ १५५½ ॥

इस तरह कोई भी भ्रान्ति उसका बाध अनुभव होने के पहले सच ही मालूम पड़ती है। उसी प्रकार जगे रहने के समय का सारा ज्ञान सच जैसे लगता है ॥ १५६½ ॥

यथा च रजतज्ञानं शुक्तिज्ञानाद् भ्रमात्मकम् ॥ १५७ ॥
एवं चिदात्मविज्ञानात् सर्वं ज्ञानं भ्रमात्मकम् ।
नभोनीलभ्रमः सर्वसमानो भासते तथा ॥ १५८ ॥
जागतो भ्रम एष स्यात् सर्वेषां दोषहेतुतः ।
अभ्रान्तिशुद्धविज्ञानं यच्चिदात्मतया स्थितम् ॥ १५९ ॥
एवमेतत्त्वया पृष्टं प्रोक्तं युक्त्यनुसङ्गतम् ।
सन्देहमत्र सन्त्यज्य राम प्रोक्तं विनिश्चिनु ॥ १६० ॥
कथं मुक्ते व्यवहृतिरिति पृष्टं पुरा तु यत् ।
तत्ते प्रवक्ष्यामि राम शृणु सम्यक् समाहितः ॥ १६१ ॥
मुक्ता हि ज्ञानिनो लोके ह्युत्तमाधममध्यमाः ।
प्रारब्धोपनतैर्भोगैः खिद्यमानाः क्षणे क्षणे ॥ १६२ ॥
स्वरूपज्ञास्तु ये राम ते मन्दज्ञानिनः स्मृताः ।
ये तु प्रारब्धसम्प्राप्तान् भुञ्जाना अपि नो विदुः ॥ १६३ ॥
मधुक्षीबा रसमिव मध्यास्ते ज्ञानिनः स्मृताः ।

लेकिन जैसे सीपी की जानकारी मिल जाने पर उसे चाँदी समझना गलत मालूम पड़ता है, उसी तरह चेतन आत्मा का ज्ञान होने पर अन्य सभी चीजें भ्रमात्मक प्रतीत होती हैं ॥ १५७½ ॥

'आकाश का रंग नीला है' यह भ्रम जैसे सबको समान रूप से होता है, ठीक उसी तरह मिथ्याज्ञान की वजह से जाग्रत् काल का भ्रम सबको समान रूप से होता है। भ्रमरहित तो केवल विशुद्ध ज्ञान ही है, जो चेतन आत्मा के रूप में मौजूद है ॥ १५८–१५९ ॥

परशुराम ! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर इस तरह दे दिया है। ये उत्तर युक्तिपूर्वक दिये गये हैं। इसके बारे में अब तुम संदेह छोड़कर जैसा कहा गया है वैसा ही निश्चय करो ॥ १६० ॥

तुमने पहले भी पूछा था कि मुक्ति मिल जाने पर भी व्यवहार कैसे होता है ? (पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में) इसका उत्तर देता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥१६१॥

संसार से मुक्त ज्ञानी पुरुष तीन तरह के होते है—उत्तम, मध्यम और अधम। अपनी किस्मत से मिले दुनियाई सुख भोगने में हर पल दुःखी होते रहते हैं, किन्तु जिन्हें अपने स्वरूप का सही ज्ञान होता है, वे अधम कोटि के ज्ञानी माने जाते हैं ॥ १६२½ ॥

जिन्हें नसीब से मिले सांसारिक सुखों को भोगते हुए भी, नशे में चूर एक शराबी की तरह निरन्तर समाहित रहने की वजह से उन भोगों का कुछ पता नहीं चलता, ऐसे पुरुष मध्यम कोटि के ज्ञानी माने गये हैं ॥ १६३½ ॥

ये तु प्रारब्धकोटीनां फलैरपि विचित्रितैः ।। १६४ ।।
न स्वस्थितेः प्रच्यवन्ते नोद्विजन्त्यापदां गणैः ।
न विस्मयन्ति चाश्चर्यैर्न हृष्यन्ति महासुखैः ।। १६५ ।।
अन्तःशान्ता बहिर्लोकसमास्ते ज्ञानिपूत्तमाः ।
एवं बुद्धिविभेदेन ज्ञानपाकविभेदतः ।। १६६ ।।
प्रारब्धशेषमाहात्म्याद्व्यवहारा विचित्रिताः ।
मधुमत्तादिवत्तेषां व्यवहारोऽपि सम्भवेत् ।। १६७ ।।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टादशोऽध्यायः ।

करोड़ों जन्म के अर्जित तकदीर से फलभोग मिलने के बावजूद जिनका इनमें मन नहीं रमता, जो अपने वास्तविक स्वरूप से विचलित नहीं होते, अनेक विपत्तियों से घिरकर भी जो दुःखी नहीं होते, बड़े-बड़े आश्चर्यों से भी जिन्हें विस्मय नहीं होता और महान् सुख पाकर भी जिन्हें खुशी नहीं होती; इस तरह भीतर से शान्त और बाहर से सामान्य लगने वाले व्यक्ति ज्ञानियों में उत्तम माने गये हैं ।।१६४–१६५½।।

इस तरह बुद्धि के भेद से, परिपक्व ज्ञान के भेद से और बची किस्मत के प्रभाव से ज्ञानियों के व्यवहार अलग-अलग ढंग के होते हैं। फिर भी एक शराबी की तरह भी उनका व्यवहार अवश्य हो सकता है ।। १६६–१६७ ।।

अठारहवाँ अध्याय समाप्त ।

एकोनविंशोऽध्यायः

इति दत्तात्रेयमुखाच्छ्रुत्वा भार्गवनन्दनः ।
भूयः पप्रच्छ मुक्तानां व्यवहारक्रमं क्रमात् ॥ १ ॥
भगवन् भूय एतन्मे विस्तरेण निरूपय ।
यथा बुद्धिविभेदेन ज्ञानपाकविचित्रता ॥ २ ॥
ज्ञानन्त्वेकविधं स्वात्ममात्रभानात्मकं ननु ।
उपेयञ्च तदेव स्याद् यन्मोक्षस्तत्प्रथात्मकः ॥ ३ ॥
तत् कथं बुद्धिभेदेन पाकभेदसमाश्रयम् ।
साधनान्यपि भिद्यन्तेऽथवा नेति तदीरय ॥ ४ ॥
इति पृष्टः पुनस्तेन दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
विस्तरेण तमेवार्थं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥
शृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।
साधने न विभेदोऽस्ति ज्ञानं न चित्रसाधनम् ॥ ६ ॥
तारतम्यात् साधनानां फलप्राप्तिविभेदिता ।
पूर्णे तु साधने ज्ञानमनायासेन सिद्धयति ॥ ७ ॥
अपूर्तितारतम्येन त्वयासापेक्षणाद्भवेत् ।

(ज्ञानियों की स्थितियों के भेद)

श्रीदत्तात्रेय के मुँह से इतनी सारी बातें सुनने के बाद भृगुपुत्र परशुराम ने उनसे जीवन्मुक्त पुरुषों के व्यवहार के बारे में फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

भगवन् ! आप कृपापूर्वक यह बात मुझे विस्तारपूर्वक फिर समझा दें कि बुद्धि-भेद के कारण ज्ञानियों के ज्ञान की परिपक्वता में अन्तर कैसे होता है ? ॥ २ ॥

यह तो निश्चित है कि सिर्फ अपनी आत्मा की झलक का बोध तो सबको समान रूप से ही होता है और इस बोध का परिणाम जो मुक्ति है, वही सबका लक्ष्य भी है ॥३॥

फिर व्यक्तिगत बुद्धि के भेद से उसकी परिपक्वता में अन्तर क्यों है ? क्या इनके साधनों में भी कोई अन्तर होता है ? कृपया ये सारी बातें समझा दें ॥ ४ ॥

दयालु दत्तात्रेय ने परशुराम की सारी बातें सुनकर विस्तारपूर्वक फिर से समझाना शुरू कर दिया ॥ ५ ॥

परशुराम ! यह रहस्य बड़ा ही उत्कृष्ट है, मैं तुम्हें समझाता हूँ, सुनो । ज्ञान के साधनों में कोई अन्तर नहीं होता, अनेक साधनों वाला यह है ही नहीं ॥ ६ ॥

किन्तु साधनों की कमी या बेशी की वजह से उनके फल पाने में अन्तर तो रहता ही है । साधन की पूर्णता होने पर तो ज्ञान सहज ही मिल जाता है और अधूरा रहने पर उसकी कमी-बेशी के अनुसार प्रयास करने की जरूरत होती है ॥७½॥

वस्तुतः साधनं किञ्चिज्ज्ञानेनैवोपयुज्यते ॥ ८ ॥
ज्ञानं क्वचिन्नैव साध्यं सिद्धत्वात्तु स्वभावतः ।
चैतन्यमेव विज्ञानं तत् सदा स्वप्रकाशकम् ॥ ९ ॥
तत्र का साधनापेक्षा नित्याभानस्वरूपके ।
चैतन्यं निहितं चित्तकरण्डेऽतिसुनिर्मले ॥ १० ॥
अनन्तवासनापङ्कमग्नं नैवोपलक्ष्यते ।
निरोधसलिलैः सम्यग् वासनापङ्कमार्जने ॥ ११ ॥
विचारशितयन्त्रेण यत्नाच्चित्तकरण्डके ।
चिरात् सङ्कुटिते राम सुयुक्त्योद्घाटिते ततः ॥ १२ ॥
भासमानं तु मणिवच्चैतन्यमुपलभ्यते ।
राम तस्माद् वासनानां निरासे साधनं स्मृतम् ॥ १३ ॥
वासनाल्प्याधिक्यभावाद् बुद्धिस्तु विविधा भवेत् ।
यस्य यावद् वासनौघो बुद्धिमाच्छाद्य संस्थितः ॥ १४ ॥
साधनापेक्षणं तस्य तावदेव भृगूद्वह ।
वासना विविधाः प्रोक्तास्तत्र मुख्या वदामि ते ॥ १५ ॥
अपराधकर्मकामभेदेन त्रिविधा हि सा ।

वास्तव में ज्ञान पाने के लिए किसी साधन की कोई जरूरत ही नहीं होती है। क्योंकि ज्ञान स्वभाव से सिद्ध होने के कारण किसी साधन से मिलने वाला है ही नहीं ॥ ८½ ॥

चेतन आत्मा ही तो ज्ञान है, वही परमात्मा है। अतः उसे पाने के लिए किसी साधन की कोई जरूरत नहीं है ॥ ९½ ॥

यह चेतन आत्मा चित्तरूपी स्फटिक मणि की साफ-सुथरी पिटारी में रखी है। किन्तु अनन्त वासनाओं के कीचड़ में फँसी रहने के कारण दिखायी नहीं देती ॥ १०½ ॥

अतः निरुद्ध मन को पानी बनाकर उससे वासना के कीचड़ को धोना पड़ता है। यह मन की पिटारी बहुत दिनों से बन्द पड़ी है। इसका ताला बढ़िया ताली से बड़ी कुशलता से खोलना पड़ता है। तब यह चेतन आत्मा खरादी गयी मणि की तरह चमकने लगती है। अतः परशुराम ! साधनों का उपयोग तो वासनाओं से छुटकारा दिलाने के लिए ही माना गया है ॥ ११–१३ ॥

बुद्धि की अनेकता का कारण वासनाओं की कमी या बेशी ही है। जिसकी बुद्धि जितनी अधिक कामनाओं से ढकी है; उसको उतने ज्यादे साधन की जरूरत होती है ॥ १४½ ॥

वासना अनेक तरह की बतलायी गयी हैं। उनमें मुख्यतः निम्नलिखित तीन हैं— अपराधवासना, कर्मवासना और कामवासना ॥ १५½ ॥

अश्रद्धैवापराधः स्यान्मुख्यः स्वात्मविनाशनः ॥ १६ ॥
विपरीतग्रहश्चापि ह्यपराधस्तु पौरुषः ।
प्रायः कलासु कुशला अपराधवशान्ननु ॥ १७ ॥
सत्सङ्गशास्त्रयोगैश्च परं तत्त्वं हि नो विदुः ।
निर्विशेषं परं तत्त्वं नास्ति नैव च सम्भवेत् ॥ १८ ॥
अस्ति तन्नैव विज्ञातुं शक्यते केनचित् क्वचित् ।
ज्ञात्वापि परमं तत्त्वं नैव तत्त्वं परं भवेत् ॥ १९ ॥
एतज्ज्ञानात् कथं मोक्ष इत्यादि बहुधा स्थितः ।
विपरीतग्रहो वापि चैतत्संशय एव वा ॥ २० ॥
अपराधः पौरुषस्तु वासनाद्या प्रकीर्त्तिता ।
शास्त्रविद्यासु कुशलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २१ ॥
अनया विहता राम संसृतिं समुपागताः ।
पुरा दुष्कृतसंस्कारवशाद् बुद्धौ तु यत् स्थितम् ॥ २२ ॥
मालिन्यमुपदेशस्य ग्रहणप्रतिबन्धकम् ।
येनाचार्यैः सम्यगुक्तमपि नो गृह्यते खलु ॥ २३ ॥
सा कर्मवासना प्रोक्ता दुर्जयापि निरोधतः ।
कामः कर्त्तव्यशेषः स्यादनन्तो बहुशाखकः ॥ २४ ॥

वेदशास्त्रों में श्रद्धा न होना अपने-आपको विनष्ट करनेवाला प्रमुख अपराध है । आत्मा के सम्बन्ध में विपरीत धारणा दूसरा अपराध है ॥ १६½ ॥

अनेक कलाओं में कुशल व्यक्ति भी इन अपराधों के कारण सन्तसमागम और शास्त्रावलोकन का मौका पाकर भी उस परमतत्त्व को जान नहीं पाते ॥ १७½ ॥

कोई ऐसा परमात्मा या मूलतत्त्व, जिससे सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ है, है ही नहीं और न तो उसका होना ही सम्भव है । यदि ऐसा तत्त्व हो भी तब भी किसी को उसका कभी बोध हो ही नहीं सकता । यदि वह किसी की जानकारी में आ भी जाय तो मन में सन्देह होने लगता है कि यह परमतत्त्व कैसे हो सकता है ? इस संदिग्ध परमतत्त्व से मुक्ति कैसे मिलेगी ? इस तरह अनेक विरुद्ध विचार इसमें रहता है या इसी को संशय भी कहते हैं ॥ १८–२० ॥

यह पुरुष अर्थात् आत्मा सम्बन्धी अपराध पहली वासना है । परशुराम ! इसी वासना के मारे सैकड़ों-हजारों लोग शास्त्रविशेषज्ञ होने के बावजूद संसार-चक्र में पड़े रहते हैं ॥ २१ ॥

जन्म-जमान्तर में किये गये बुरे कामों का मन पर पड़े प्रभावों से बुद्धि में जो मलिनता आ जाती है, उसी की वजह से अच्छे उपदेश भी गले के नीचे नहीं उतरते । अच्छे-से-अच्छे गुरु के समझाने पर भी बात समझ में नहीं आती । यही कर्मवासना है । निरुद्ध मन से भी इसे जीतना कठिन है ॥ २२–२३½ ॥

रामाम्भोधौ तरङ्गाणां सङ्ख्यां कुर्याद्धि कश्चन ।
पार्थिवानामणूनां वा तथा तारागणस्य वा ॥ २५ ॥
एकस्यापि हि कामानां सङ्ख्यातुं नैव शक्यते ।
इयं राम तृतीया ते सम्प्रोक्ता कामवासना ॥ २६ ॥
आकाशादपि विस्तीर्णा ह्यचला भूधरादपि ।
आशापिशाची प्रोक्तेयं राम या कामवासना ॥ २७ ॥
अनयैव हि सर्वोऽयं लोक उन्मत्तवत् स्थितः ।
येन दन्दह्यमानोऽयं लोक आक्रन्दते तदा ॥ २८ ॥
केऽपि लोके धन्यतमा महामन्त्रसमाश्रयात् ।
विनिर्मुक्तास्तया भान्ति नराः सर्वाङ्गशीतलाः ॥ २९ ॥
एताभिस्तिसृभी राम वासनाभिर्यतो मनः ।
समाक्रान्तमतो नूनं तत्तत्त्वं नावभासते ॥ ३० ॥
अतः सर्वसाधनस्य वासनानाशनं फलम् ।
तत्राद्या ह्यपराधत्वनिश्चयाद्विनिवर्त्तते ॥ ३१ ॥
द्वितीया जन्मनैकेन निवर्त्तेतापि जन्मभिः ।
ऐश्वरेण प्रसादेन नान्यथा कोटियुक्तिभिः ॥ ३२ ॥

'मेरा यह फर्ज है' इसे पूरा करना मेरा काम है, ऐसा सोचना ही 'कामवासना' है। ऐसे संकल्प अर्थात् अनुचिंतन का न कोई ओर है न छोर, इसकी अनेक शाखाएँ हैं। परशुराम ! कोई आदमी सागर की लहरों को गिन सकता है, आकाश के तारे की भी गिनती कर सकता है, बालू के कण भी गिने जा सकते हैं; किन्तु किसी एक आदमी की कामवासना की गिनती असम्भव है। मैंने 'कामवासना' तुम्हें समझा दी है ॥ २४–२६ ॥

हे परशुराम ! यह कामवासना आशापिशाचिनी है। इसका फैलाव आकाश से भी ज्यादे है, पहाड़ से भी अधिक यह अडिग है ॥ २७ ॥

इसी कामवासना की वजह से यह सारी दुनिया पगला रही है। इसी में जलकर चीख रही है ॥ २८ ॥

इस संसार में कोई बिरले ही बड़भागी लोग हैं, जो इस दुनिया के जंजाल से हटकर विरक्ति महामन्त्र का सहारा लेकर इससे छुटकारा पाते हैं और जिनका सारा बदन शान्त होकर सुशोभित होते हैं ॥ २९ ॥

परशुराम ! मानव-मन इन तीन वासनाओं से घिरा रहता है, इसी से वह आत्मा सामने नहीं झलकती है ॥ ३० ॥

अतः इस सन्दर्भ के जितने भी साधन हैं, उनका फल इन वासनाओं का विनाश करना ही है। इनमें पहली वासना तो अश्रद्धा में अपराधबोध के निश्चय से ही मिट जाती है ॥ ३१ ॥

तृतीया विनिवर्त्तेत वैराग्यादिसुसाधनैः ।
दोषदृष्टयैव वैराग्यं भवेन्नैवाऽन्यथा क्वचित् ॥ ३३ ॥
प्रोक्तानां वासनानां वै स्वल्पानल्पविभेदतः ।
तस्याश्चाल्पानल्पभावापेक्षा भवति भार्गव ॥ ३४ ॥
तत्राद्यं सर्वमूलं स्यान्मुमुक्षुत्वं न चेतरत् ।
मुमुक्षामन्तरा यत्तु श्रवणं मननादिकम् ॥ ३५ ॥
न मुख्यफलसंयुक्तं केवलं शिल्पवद्भवेत् ।
न शिल्पज्ञानमात्रेण प्राप्यते परमं पदम् ॥ ३६ ॥
मुमुक्षामन्तरा यैस्तु श्रुतं सम्यग् विचारितम् ।
शवालङ्कारवत् सर्वं तेषां व्यर्थं भवेत् खलु ॥ ३७ ॥
व्यर्था सापि भवेन्मन्दा मुमुक्षा राम सर्वथा ।
यथा फलश्रुतेरिच्छा सामान्या न फलावहा ॥ ३८ ॥
फलश्रुत्युत्तरोद्भूता नेच्छा कर्मफलावहा ।
फलश्रुत्या कस्य नाम न स्यात् सा जीवधर्मिणः ॥ ३९ ॥
तस्मादापातरूपाया मुमुक्षाया न वै फलम् ।
यथा मुमुक्षा तीव्रा स्यात्तथा तस्याचिरं फलम् ॥ ४० ॥

दूसरी है कर्मवासना । यह वासना एक या अनेक जन्मों में परमात्मा की असीम अनुकम्पा से ही छूट सकती है। अन्यथा करोड़ों उपाय से भी मुक्ति नहीं मिल सकती है ॥ ३२ ॥

तीसरी है कामवासना । यह वासना वैराग्य से दूर हो सकती है । दुनियादारी में दोषदृष्टि से ही वैराग्य होता है; अन्यथा बिलकुल नहीं ।। ३३ ॥

परशुराम ! ऊपरवर्णित वासनाओं की कमी या बेशी के अनुसार उससे छुटकारा पाने के लिए कम या ज्यादे भावना की अपेक्षा होती है ॥ ३४ ॥

इनमें भी सबकी जड़ और पहली वजह मुक्ति पाने की इच्छा है और कुछ नहीं । मोक्ष की इच्छा के बिना श्रवण-मनन का प्रमुख फल तत्त्वज्ञान नहीं मिलता । वे सिर्फ कला मात्र रह जाते हैं और सिर्फ कलाज्ञान से आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती ॥ ३५–३६ ॥

मुक्ति की इच्छा किये बिना जो कोई श्रवण या अनुचिन्तन करता है, वह केवल मुर्दे के सिंगार की तरह उनके लिए बेकार ही होता है ॥ ३७ ॥

परशुराम ! मुक्ति पाने का इरादा भी अगर पक्का नहीं है तो भी उनका सारा प्रयास भी बेकार ही होता है । फल सुनकर फल पाने की ललक से जैसे फल नहीं मिल जाता ठीक उसी तरह ॥ ३८ ॥

फल सुनने के बाद फल पाने की ललक से कर्म का फल तो नहीं मिल जाता । ऐसा कौन आदमी है जिसे फल सुनकर उसे पाने की इच्छा न हो ॥ ३९ ॥

मुमुक्षा या मुख्यतमा सा साधनगणेष्वलम् ।
प्रवृत्तिमुत्पादयेद्वै सा हि तत्परतोच्यते ॥ ४१ ॥
यथा सुदग्धसर्वाङ्गो न शीतान्यदपेक्षते ।
तथा यदा विमुक्त्यन्यन्नापेक्षेत हि सर्वथा ॥ ४२ ॥
सा मुमुक्षा भवेत् तीव्रा समर्था फलसाधने ।
एषा विमुक्तेरन्यत्र दोषदृष्टयैव जायते ॥ ४३ ॥
तीव्रवैराग्यमुखतः क्रमेण तीव्रतामियात् ।
दोषदृष्टया हि वैराग्यं विषयप्रीतिनाशनम् ॥ ४४ ॥
वैराग्येण मुमुक्षुत्वं तीव्रं तत्परतोदयम् ।
तत्परत्वं साधनेषु प्रवृत्तिरतितीव्रता ॥ ४५ ॥
अतितीव्रप्रवृत्त्यैव द्रुतं फलमवाप्नुयात् ।
इति दत्तात्रेयवचो निशम्य भार्गवः पुनः ॥ ४६ ॥
पप्रच्छ सन्दिग्धमनाः संशयं सुमहत्तरम् ।
भगवन् भवता प्रोक्तं सत्सङ्गो मूलकारणम् ॥ ४७ ॥
ईश्वरानुग्रहश्चापि दोषदृष्टिरपीति च ।
किमादिकारणं मुख्यं तत्प्राप्तिर्वा कथं भवेत् ॥ ४८ ॥

अतः किसी कारण-विशेष से अचानक मुक्ति पाने की जो इच्छा जगती है, उस [illegible] का कोई फल नहीं मिलता। मुमुक्षा जितनी तेज होगी, उतनी जल्दी उसका [illegible] मिलेगा ॥ ४० ॥

संसार से छुटकारा पाने का पक्का इरादा अकेले ही सभी साधनों में अभिरुचि [illegible] कर देता है। इसी को तत्परता अर्थात् होशियारी भी कहते हैं ॥ ४१ ॥

जिस आदमी के अंग-प्रत्यंग में जलन हो रही हो, वह व्यक्ति ठंड के सिवा और [illegible] वस्तु की इच्छा नहीं करता; ठीक उसी तरह जब तीव्र मुमुक्षा होती है और [illegible] इसके सिवा और कोई इच्छा शेष नहीं रह जाती है, तब वही इच्छा मुक्तिरूपी [illegible] दिलाने में समर्थ होती है। मुक्ति पाने की ऐसी तीव्र इच्छा तभी जगती है, जब [illegible] के अलावा हर चीज में दोषदृष्टि उत्पन्न होती है ॥ ४२–४३ ॥

बेहद विरक्ति से ही मुक्ति में अनुरक्ति उसी क्रम में बढ़ती है। विषयों में दोष-[illegible] से ही उनमें आसक्ति मिटानेवाली विरक्ति पैदा होती है ॥ ४४ ॥

विरक्ति से मुक्ति पाने के लिए मन में ललक पैदा होती है। साधनों की ओर मन का तीव्र झुकाव ही तत्परता है। इसे पाने की जितनी ज्यादा मुस्तैदी होगी, उतनी [illegible] फल मिलेगा ॥ ४५½ ॥

गुरु दत्तात्रेय की इन बातों को सुनकर परशुराम के मन में सन्देह उत्पन्न हो [illegible]। उन्होंने पुनः अपना संशय उनके सामने रखते हुए पूछा—॥ ४६½ ॥

गुरुदेव ! इसे पाने का मूल कारण पहले आपने 'सत्संग' बतलाया। फिर ईश्वर

न हि निष्कारणं किञ्चिद् भवेदिति हि निश्चयः ।
तत् कथं स्याद्विना हेतोरेतन्मे वद विस्तरात् ॥ ४९ ॥
इति पृष्टः प्राह रामं दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
भार्गव शृणु ते वक्ष्ये श्रेयसः परमोद्भवम् ॥ ५० ॥
परा सा या चितिर्देवी स्वस्वातन्त्र्यस्य वैभवात् ।
स्वात्मन्येव जगच्चित्रं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ५१ ॥
सैव हैरण्यगर्भाख्यां तनुमास्थाय वै परा ।
अनाद्यज्ञानसञ्छन्नजीवानां हितकाम्यया ॥ ५२ ॥
उन्मेषयदागमाब्धि सर्वकामप्रपूरणम् ।
तत्र जीवाः स्वभावेन विचित्रकामवासनाः ॥ ५३ ॥
कथं तेषां शुभं भूयादेवं चिन्तापरायणः ।
असृजत् काम्यकर्माणि फलचित्राणि सर्वशः ॥ ५४ ॥
सदसद्वापि हि जनः करोत्येव स्वभावतः ।
तथा च केनापि कर्मपरिपाकवशेन तु ॥ ५५ ॥
भ्रमन् योनिविभेदेषु मानुष्यमुपसङ्गतः ।
कामनावशतः काम्ये कर्मण्यभिमुखो भवेत् ॥ ५६ ॥
कामनाया विशेषेण यदेश्वरपरो भवेत् ।
तदैश्वराणि शास्त्राणि प्रसङ्गादवलोकयेत् ॥ ५७ ॥

की कृपा और विषयों में दोषदृष्टि कहा । इनमें प्रमुख और पहला कारण कौन है ? इसे पाने की युक्ति क्या है ? क्योंकि इतनी बात निश्चित है कि कोई काम अकारण नहीं होता, तो फिर यह मोक्ष बिना किसी निमित्त के कैसे होगा ? कृपया इसे सविस्तर समझायें ॥ ४७–४९ ॥

परमदयालु दत्तात्रेय ने परशुराम का प्रश्न सुनकर कहा—हे भार्गव ! मैं तुम्हें परम कल्याण का प्रधान साधन समझाता हूँ, सुनो ॥ ५० ॥

वह देवी पराचिति, जो अपनी बेनियाज ताकत से आईने में परछाई की तरह अपने में ही इस दुनिया की तसवीर को झलका देती है; उसी देवी ने 'हिरण्यगर्भ' नामक देह धारण कर अनादि अज्ञान से घिरे जीवों की हितकामना से उनकी सारी अभिलाषाओं को पूरा करनेवाले 'वेदशास्त्र' रूपी समुद्र का निर्माण किया ॥ ५१–५२½ ॥

इस संसार में जीव स्वभाव से ही अनेक तरह की कामनाओं और वासनाओं से घिरे रहते हैं । उनका कल्याण कैसे हो ? यह सोचकर उसने इसमें अनेक काम्यकर्मों का निर्देश किया ॥ ५३–५४ ॥

आदमी स्वभाव से ही अच्छे-बुरे काम करते ही रहते हैं । अनेक योनियों में भटकते हुए किसी शुभकर्म के परिणामस्वरूप मानव-देह पाते हैं । फिर कामना के अधीन होकर अपने मनपसन्द काम में लग जाते हैं ॥ ५५–५६ ॥

काम्यकर्मफलश्रुत्या प्रवृत्तः काम्यकर्मणि ।
विहतस्तत्फलाप्राप्त्या वैगुण्यात् सूक्ष्मकर्मणः ॥ ५८ ॥
कर्त्तव्यजिज्ञासयैव कञ्चित् स पुरुषं व्रजेत् ।
तत्प्रसङ्गवशात् क्वापि माहात्म्यं शृणुयात् क्वचित् ॥ ५९ ॥
महेश्वरस्य च ततः प्राक्पुण्यपरिपाकतः ।
तस्य प्रसादने भूयात् प्रवृत्तिरपि भार्गव ॥ ६० ॥
तस्मात् प्राक्पुण्यपाकेन सत्सङ्गमभिगम्य तु ।
प्राप्नोति श्रेयःसोपानपङ्क्तिमत्यन्तदुर्लभाम् ॥ ६१ ॥
प्रायः सत्सङ्गमूलैव श्रेयःप्राप्तिरुदीरिता ।
क्वचिदुत्कृष्टपुण्येन चोत्कृष्टतपसापि वा ॥ ६२ ॥
श्रेयः प्राप्नोति सहसा ह्याकाशफलपातवत् ।
तस्मात् कारणवैचित्र्याच्छ्रेयःप्राप्तिविचित्रता ॥ ६३ ॥
तथा च बुद्धिभेदेन वासनातारतम्यतः ।
साधनानां तारतम्याद्विचित्रा ज्ञानिनां स्थितिः ॥ ६४ ॥
स्वभावाद्यस्य वै बुद्धेर्वासना विरला भवेत् ।
तस्याल्पसाधनेनैव ज्ञानसिद्धिर्भवेदलम् ॥ ६५ ॥

जब किसी खास इच्छा से वह भगवत्परायण होता है, तब प्रसंगवश उसे ईश्वर सम्बन्धी शास्त्र देखना पड़ता है ॥ ५७ ॥

अभिलषित काम का शुभ परिणाम सुनकर इच्छित काम करने में वह प्रवृत्त होता है, पर किसी काम में कमी रह जाने से जब फल पाने में बाधा आ जाती है तब अपने कर्त्तव्य को ठीक से समझने के लिए किसी सत्पुरुष की शरण में जाता है ॥ ५८½ ॥

उस सत्संग के क्रम में जब उसके पहले किये गये पुण्यकर्म का उदय होता है, तब वह उस महापुरुष के मुँह से महेश्वर की महिमा का बखान सुनता है और यह उस महेश्वर की कृपा से ही होता है, अन्यथा नहीं ॥ ५९–६० ॥

अतः पहले किये गये पुण्यकर्म का उदय होने पर सत्संग मिलता है, जहाँ प्राणी को मुक्तिपद की अत्यन्त दुर्लभ सीढ़ी अर्थात् साधन-विधि मिलती है ॥ ६१ ॥

इस तरह 'परमपद' पाने का मूल कारण प्रायः सत्संग ही कहा गया है। कभी किसी को महान् पुण्य अथवा घोर तप के प्रभाव से आकाश से गिरे फल की तरह अचानक भी परमपद मिल जाता है ॥ ६२½ ॥

अतः कारणों की अनेकता होने से कल्याणपद पाने में भी भेद रहता है। इसी तरह बुद्धिभेद, वासनाओं की कमी-बेशी और साधनों के तारतम्य से भी ज्ञानियों की स्थिति अनेक तरह की होती है ॥ ६३–६४ ॥

जिस व्यक्ति की बुद्धि में स्वभाव से वासना की जितनी कमी होगी उतने ही कम साधन से उसे पूरा ज्ञान मिल जाता है ॥ ६५ ॥

यस्य स्वभावात् संशुद्धं वासना न हि लेशतः।
तस्य स्वल्पनिमित्तेन भवेज्ज्ञानं महत्तरम्॥ ६६॥
यस्य स्वभावादत्यन्तवासनानिबिडं मनः।
तस्य ज्ञानं जातमपि समाच्छादितकल्पकम्॥ ६७॥
तेनैव साधितं भूयश्चिरादभ्येति पूर्णताम्।
अत एव ज्ञानिनां तु दृश्यते विविधा स्थितिः॥ ६८॥
चित्तपाकविभेदेन स्थितिभेदो भृगूद्वह।
तस्माद् बुद्धौ वासनाभिस्त्वावृत्तेस्तारतम्यतः॥ ६९॥
ज्ञानं भिन्नं लक्ष्यते हि स्थितिभेदस्तथा भवेत्।
राम पश्य स्थितेर्भेदं ज्ञानिनां तु परस्परम्॥ ७०॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानां स्वभावज्ञानिनस्तु ते।
तेषां पश्य स्थितेर्भेदं स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ७१॥
नैषां ज्ञानस्य मालिन्यं वक्तुं शक्यं कथञ्चन।
स्वभावगुणमाहात्म्यं भिन्नमेव तथापि हि॥ ७२॥
यथा ज्ञानिशरीरं तु गौरं न श्यामतां व्रजेत्।
एवं चित्तस्वभावोऽपि नान्यभावं प्रपद्यते॥ ७३॥

जिस आदमी का मन स्वभाव से ही पवित्र है; जिसके मन में वासना की गंध तक नहीं है; उसे थोड़े प्रयास से भी महान् ज्ञान मिल जाता है॥ ६६॥

जिसके मन पर वासना छायी रहती है, उसे यदि ज्ञान मिल भी जाय तो वह ज्ञान ढका ही रहता है॥ ६७॥

बहुत दिनों तक घोर साधना के बाद तब जाकर कहीं उसका ज्ञान पूरा होता है। इसी से ज्ञानियों की अनेक स्थितियाँ मानी गई हैं॥ ६८॥

परशुराम! ज्ञानियों की स्थिति का यह भेद मन की पवित्रता की कमी-बेशी के कारण होता है। वासना के अनुसार बुद्धि का आच्छादन कम या ज्यादे होता है। इसी की वजह से ज्ञान के स्तर में भेद देखा जाता है। ज्ञानियों की स्थिति-भेद का भी यही कारण होता है॥ ६९½॥

परशुराम! ज्ञानियों की पारस्परिक स्थितियों का भेद तो जरा तुम देखो— ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों-के-तीनों स्वभावसिद्ध ज्ञानी हैं। किन्तु देखो, अपने अलग-अलग गुणों के कारण उनकी स्थितियों में कितना स्तरीय भेद है॥ ७०–७१॥

इनके ज्ञान में किसी तरह की मलिनता तो नहीं है, फिर भी स्तरीय भेद तो अलग-अलग गुणों के कारण है ही॥ ७२॥

जैसे किसी ज्ञानी की गोरी देह साँवली तो नहीं होती, उसी तरह उसके मन का स्वभाव भी नहीं बदलता है॥ ७३॥

अस्मान् राम तथा पश्य ज्ञानिनोऽत्रिसुतान् स्थितान्।
दुर्वाससं चन्द्रमसं माञ्च भिन्नस्थितिं गतम् ॥ ७४ ॥
क्रोधिनं कामिनं त्यक्तसर्वलिङ्गपरिग्रहम्।
वसिष्ठं पश्य कर्मिष्ठं सनकादींश्च न्यासिनः ॥ ७५ ॥
नारदं भक्तिसंमग्नं कवयन्तञ्च भार्गवम्।
दैत्यपक्षसंश्रयिणं गुरुं देवसमाश्रयम् ॥ ७६ ॥
वाग्मिनश्च व्यासमपि शास्त्रनिर्माणतत्परम्।
जनकं पश्य राजानं भरतं त्यागिनं तथा ॥ ७७ ॥
भिन्नस्थितीन् स्वभावेन ज्ञानिनः पश्य चापरान्।
रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि शृणु भार्गवनन्दन ॥ ७८ ॥
त्रिविधा या वासनोक्ता द्वितीया तत्र या भवेत्।
कर्मजा मूढतारूपा सा सर्वेभ्यो महत्तरा ॥ ७९ ॥
येषां तल्लेशकश्चित्ते नास्ति मेधाविनस्तु ते।
अपराधविहीनानां तेषां कामादिवासनाः ॥ ८० ॥
अभ्यासेनाविलीनाश्च ज्ञानस्याप्रतिबन्धिकाः।
ततो वैराग्यादिकं तु न तेषामुपयुज्यते ॥ ८१ ॥
न वा भूयोऽपि मननं समाधिश्चोपयुज्यते।
सकृच्छ्रवणमात्रेण मननं ध्यानमेव च ॥ ८२ ॥

परशुराम ! तुम हमें ही देखो। महर्षि अत्रि के दुर्वासा, चन्द्रमा और दत्तात्रेय तीन पुत्र हैं। हम तीनों ज्ञानी हैं, पर तीनों की दशा में काफी अन्तर है ॥ ७४ ॥

दुर्वासा क्रोधी हैं, चन्द्रमा कामी हैं तथा मैं हर तरह की पहचान और परिवार का परित्यागी हूँ। वसिष्ठ को देखो, वे कर्मकाण्डी हैं और सनकादिक संन्यासी हैं ॥ ७५ ॥

नारद भक्ति में डूबे हैं। शुक्राचार्य असुरों के पक्ष में कविता लिखने में लगे रहते हैं। बृहस्पति देवताओं के पक्षधर हैं ॥ ७६ ॥

व्यास वाग्मी, अच्छे वक्ता या कवि हैं तथा शास्त्रनिर्माण में संलग्न रहते हैं। जनकजी को देखा, वे राजा हैं। भरत राज्यत्यागी हैं ॥ ७७ ॥

इसी तरह अलग-अलग हालातवाले अनेक ज्ञानियों को तुम देख सकते हो। परशुराम ! इसका जो रहस्य है, मैं खोलकर तुम्हें समझाता हूँ, सुनो ॥ ७८ ॥

ऊपर मैंने जो तीन तरह की वासनाएँ बतलायी हैं, उनमें दूसरी कर्मवासनाएँ, जिसका स्वरूप मूढ़ता ही है, सबसे बढ़कर है ॥ ७९ ॥

जिनके मन में थोड़ी भी मूढ़ता नहीं है, वे ही मेधावी हैं। उनमें अपराधवासना थोड़ी भी नहीं होती। ऐसी स्थिति में अभ्यास से यदि उनकी कामवासना बिलकुल निवृत्त न भी हो तो भी यह ज्ञान में रुकावट डालनेवाली नहीं रहती ॥ ८०½ ॥

फिर उन्हें वैराग्य जैसे साधनों की भी विशेष जरूरत नहीं रहती और न बार-

तत्काल ईषत् सम्प्राप्य ज्ञातासन्दिग्धतत्पदाः।
भवन्ति जीवन्मुक्तास्ते जनकप्रमुखा इव ॥ ८३ ॥
विपरीताभ्यासवशान्नैव तैः क्षपिताः खलु।
कामादिवासनाः सम्यक् सूक्ष्मा निर्मलबुद्धिभिः ॥ ८४ ॥
अतस्तैस्तत्पदे ज्ञाते चापि पूर्वस्थितास्तु ताः।
कामादिवासनाः प्राग्वत् प्रवर्त्तन्ते निरन्तरम् ॥ ८५ ॥
न ताभिरीषद्वा बुद्धेस्तेषां लेपो भवेत् क्वचित्।
विद्वद्भिस्ते हि सम्प्रोक्ता मुक्ताश्च बहुमानसाः ॥ ८६ ॥
राम कर्मवासनाभिरतिमूढं तु यन्मनः।
तस्य ज्ञानं नैव भवेच्छिवोदितमपि क्वचित् ॥ ८७ ॥
दृढापराधयुक्तानामपि न स्यात् कथञ्चन।
यस्यापराधरूपापि कर्मरूपापि वासना ॥ ८८ ॥
स्वल्पा कामात्मकाश्चापि बहुलास्तस्य भार्गव।
बहुलश्रवणैस्तद्वन्मननैश्च समाधिभिः ॥ ८९ ॥
चिरकालेन विज्ञानं बहुक्लेशेन जायते।
तस्य व्यवहृतिः स्वल्पा तत्राभ्यासप्रकर्षतः ॥ ९० ॥
मनो यदि भवेन्नष्टप्रायं निर्वासनं ततः।
ज्ञानिनस्त्वीदृशाः प्रोक्ता मध्यमा नष्टमानसाः ॥ ९१ ॥

बार मनन या समाधि की ही अपेक्षा रहती है। एक बार सुन लेने पर ही उसी समय उसका कुछ अनुचिन्तन और निदिध्यासन भी हो जाता है और वे असंदिग्ध रूप से उस परमपद को जान लेते हैं तथा जनकादि जैसे जीवन्मुक्त हो जाते हैं ॥ ८१–८३ ॥

अपनी साफ और बारीक बुद्धि के कारण उन्होंने काम-प्रभृति वासनाओं को उनके विरुद्ध अभ्यास कर उन्हें कमजोर नहीं बनाया ॥ ८४ ॥

अतः उस परमपद को जान लेने पर भी उनमें पहले से मौजूद कामादि वासनाएँ पहले की ही तरह अपना काम लगातार जारी रखती हैं ॥ ८५ ॥

उनकी बुद्धि उन वासनाओं में कभी थोड़ी भी अनुरक्त नहीं होती। ज्ञानीजन उन्हें मुक्त और बहुमानस कहते हैं ॥ ८६ ॥

हे परशुराम ! जिस आदमी का मन कामवासना की वजह से बहुत अधिक मूढ़ हो जाता है, उसे यदि साक्षात् शंकर भी उपदेश दें फिर भी उसे ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी तरह जिसकी अपराधवासना काफी मजबूत हो चुकी है, उसे ज्ञान नहीं होता ॥ ८७½ ॥

हे परशुराम ! जिसमें अपराध और कर्मवासनाएँ कम हैं, किन्तु कामवासना ज्यादे है, उसे बड़ी कठिनाई से ज्ञान तो मिल जाता है, परन्तु उसके लिए बहुत दिनों तक उसे श्रवण, मनन और समाधि का लगातार अभ्यास करना पड़ता है ॥ ८८–८९½ ॥

तेषामेव तु केषाञ्चिदभ्यासस्याप्रकर्षतः ।
वासनाविरलं यस्मादनष्टं मानसं भवेत् ॥ ९२ ॥
समनस्कास्तु ते प्रोक्ता मन्दज्ञानयुतास्तु वै ।
केवलज्ञानिनस्त्वेते जीवन्मुक्तास्तथेतरे ॥ ९३ ॥
केवलज्ञानिनो दृष्टदुःखभाजो भवन्ति हि ।
प्रारब्धतन्त्रास्ते प्रोक्ता देहान्ते मुक्तिभागिनः ॥ ९४ ॥
ये नष्टमानसाः प्रोक्तास्तैः प्रारब्धं पराकृतम् ।
मनोभूमौ तु प्रारब्धबीजं भोगाङ्कुरं भवेत् ॥ ९५ ॥
मनोभूमेरभावेन तत् प्रारब्धं तु कालतः ।
कुसूलस्थं बीजमिव विनश्येन्नष्टशक्तिकम् ॥ ९६ ॥
यथात्यन्तसुमेधावी युगपद् दश पञ्च च ।
कार्याणि कुरुते क्वापि भवेदस्खलितोऽपि च ॥ ९७ ॥
भूय एवंविधा दृष्टाः क्रियानैपुण्यसंश्रयाः ।
यथा गच्छन् वदन् कुर्वन् युगपल्लक्ष्यते जनः ॥ ९८ ॥
तत्र चैकेन मनसा कथं स्यात् त्रिविधा क्रिया ।
अध्येतॄणां बहूनाञ्च युगपल्लक्षयेद् गुरुः ॥ ९९ ॥

यह व्यवहार में बहुत कम लाया गया है। लगातार अभ्यास से मन मारकर यह वासनाशून्य बन जाता है। ऐसे ज्ञानी मध्यम कोटि के होते हैं। इन्हें नष्टमानस कहा जाता है ॥ ९०–९१ ॥

अभ्यास की अधिकता नहीं होने के कारण उनमें से कुछ में वासनाएँ बची रह जाती हैं, क्योंकि उनका मन नहीं मरता ॥ ९२ ॥

ऐसे ज्ञानी को 'समनस्क' कहा गया है। ये मन्दज्ञानी होते हैं। ये केवल ज्ञानी हैं। इनसे भिन्न ज्ञानी जीवन्मुक्त कहलाते हैं ॥ ९३ ॥

जो केवल ज्ञानी हैं, उन्हें दुष्ट दुःख भोगना पड़ता है। वे भाग्याधीन होते हैं। उन्हें मरने के बाद ही मुक्ति मिलती है ॥ ९४ ॥

जिन ज्ञानियों का मन मर चुका है, भाग्य उनके अधीन होता है। मन की भूमि पर ही प्रारब्धरूपी बीज से भोगरूपी अंकुर का जन्म होता है। किन्तु इनकी मनरूपी भूमि के अभाव में प्रारब्ध खत्ती में पड़े बीज की तरह कालक्रम से शक्तिहीन होकर स्वतः विनष्ट हो जाते हैं ॥ ९५–९६ ॥

काफी होशियार आदमी जैसे एक साथ दस-पाँच काम करता रहता है और उनमें से किसी में किसी तरह की भूल भी नहीं होती, इसी तरह ज्ञानियों में भी क्रिया-कौशल सम्पन्न अनेक महापुरुष देखे जाते हैं ॥ ९७½ ॥

जैसे एक ही आदमी एक साथ चलता, बोलता और हाथों से काम करता देखा जाता है। उसी तरह एक ही मन से एक साथ तीन काम कैसे हो सकते हैं? ॥९८½॥

अपभ्रंशानुच्चरितं वर्णभेदव्यवस्थितम् ।
राम यस्ते हतः शत्रुरर्ज्जुनो हैहयाधिपः ॥ १०० ॥
सहस्रबाहुर्युगपद् हेतिभिर्बहुभिः पृथक् ।
अयुध्यदस्खलन् क्वापि मेधावी दृष्ट एव ते ॥ १०१ ॥
तेषां मनो बहुविधं भूत्वा तत्तत्क्रमानुगम् ।
यथाकार्यं बहुविधं साधयेन् तद्वदेव हि ॥ १०२ ॥
उत्तमज्ञानिनामात्मदृष्टिर्बाह्यगतापि च ।
अविरुद्धा सर्वदा स्याद् येषां ते बहुमानसाः ॥ १०३ ॥
तत्प्रारब्धं मनोभूमौ भवेदङ्कुरितं पृथक् ।
भवेज्ज्ञानाग्निना दग्धं भूतं भूतं पुनः पुनः ॥ १०४ ॥
प्रारब्धबीजाङ्कुरः स्यात् सुखदुःखसमागमः ।
तद्विमर्शः फलं प्रोक्तं कुतो दग्धाङ्कुरे फलम् ॥ १०४ ॥
आहृतैरनुसन्धानैस्तेषां व्यवहृतिर्भवेत् ।
यथा प्रौढो हि बालेन सह खेलन् हि दृश्यते ॥ १०६ ॥
हृष्टो विषण्णश्च शिलागजादीनां विनाशने ।
एवं हृष्यन्ति सीदन्ति कार्येषु बहुमानसाः ॥ १०७ ॥

एक ही अध्यापक वर्ग में अवस्थित अनेक छात्रों की अनुच्चरित एवम् उच्चारण सम्बन्धी भूलों को जैसे एक साथ भाँप लेता है ॥ ९९½ ॥

परशुराम ! तुमने अपने दुश्मन हैहयराज सहस्रार्जुन का वध किया है। लड़ाई के मैदान में एक साथ अनेक हथियारों को चलाने में वह काफी माहिर था। इसमें उससे कभी भूल-चूक नहीं होती थी। यह तुमने अपनी आँखों से देखा है ॥ १००–१०१ ॥

ऐसे लोगों का मन अनेक रूपों में विभिन्न कार्यों का क्रमानुसार निष्पादन एक साथ कर लेता है। ठीक इसी तरह उत्कृष्ट ज्ञानियों की आत्मदृष्टि में भीतर-बाहर में कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ज्ञानियों को 'बहुमानस' कहा गया है ॥ १०२–१०३ ॥

उनका अलग-अलग भाग्य जैसे-जैसे उनकी मनोभूमि में अंकुरित होता है, वैसे-ही-वैसे वह ज्ञानरूपी आग में जलकर खाक हो जाता है ॥ १०४ ॥

भाग्यरूपी बीज का अंकुर है—जीवन में सुख-दुःख का मिलना और इनका फल है—उस सुख-दुःख पर विचार करना। परन्तु जिसका अंकुर जल गया, उसका फल कैसा? ॥ १०५ ॥

उनका काम स्वभावसिद्ध अनुसंधान से ही चलता है। जैसे कोई समझदार आदमी बच्चों के साथ खेलते समय पत्थर के खिलौने टूट-फूट जाने पर खुश या नाखुश होते हैं, उसी तरह ये बहुमानस ज्ञानी भी व्यावहारिक दुनिया में दुःखी या सुखी देखे जाते हैं ॥ १०६–१०७ ॥

यथाऽन्यकार्यसक्तस्य हर्षोद्वेगौ न चान्तरौ ।
एवं तेषां व्यवहृतौ समा सर्वत्र संस्थितिः ॥ १०८ ॥
मेधाविनां ज्ञानिनां तु वासनानाशहेतवे ।
विरुद्धवासनाभ्यासनिरोधादेरभावतः ॥ १०९ ॥
अनुवृत्तिर्भवेत् पूर्ववासनाऽनाशहेतुतः ।
अतः केचित् कर्मनिष्ठाः कामिनः क्रोधिनोऽपरे ॥ ११० ॥
उत्तमज्ञानिनो भान्ति विविधाचारतत्पराः ।
समनस्कस्तत्र यो वै मन्दज्ञानी निरूपितः ॥ १११ ॥
तेनापि वेद्यमखिलमसत्यत्वेन निश्चितम् ।
स्वरूपवित्तौ नो किञ्चिद्भासते हि समाधिषु ॥ ११२ ॥
समाधिर्वै स्वरूपस्य विमर्शो नान्य उच्यते ।
निर्विकल्पस्वरूपं तु सर्वाश्रयतया सदा ॥ ११३ ॥
स्फुरत्येव हि सर्वेषां तदस्फूर्तौ न किञ्चन ।
तथा विकल्पविकलं स्फुरेत् प्रोक्तदशासु च ॥ ११४ ॥
तावता न हि सर्वेषां समाधिः स्याद्धि भार्गव ।
ये तद्विमर्शसंयुक्ताः स तेषामेव संस्मृतः ॥ ११५ ॥

जैसे किसी दूसरे काम में लगे हुए आदमी को ऊपर से ही सुख-दुःख की अनुभूति होती है, भीतर से नहीं; उसी तरह अनेक काम करते समय भी उनकी स्थिति सब जगह समान रहती है ॥ १०८ ॥

ऐसे बुद्धिमान् ज्ञानी अपनी वासनाओं को विनष्ट करने के लिए न तो विरुद्ध वासना का अभ्यास करते हैं और न चित्त का निरोध ही । अतः पूर्ववासनाओं का समूल उच्छेदन होने की वजह से कभी-कभी इन ज्ञानियों में उसकी अनुवृत्ति देखी जाती है । यही कारण है कि इन ज्ञानियों में भी कोई कामी, तो कोई क्रोधी या कर्मसंकुल देखे जाते हैं ॥ १०९–११० ॥

ऊपर समनस्क मन्दज्ञानी का जो उल्लेख आया है, उन्हें भी दृश्यजगत् की असत्यता की निश्चयात्मक अनुभूति तो हो ही जाती है, फिर भी स्वरूपानुसंधान एवं समाधि के समय उन्हें दूसरी कोई वस्तु नहीं दीखती ॥ १११–११२ ॥

यथार्थ में तो स्वरूप का अनुसंधान ही समाधि है और कुछ नहीं । एक निर्विकल्प आत्मा ही हमेशा सबका आधार बनकर चमकती रहती है । उसकी दीप्ति न हो तो कुछ भी नहीं रह सकता । उपर्युक्त अनेक ज्ञानों की अन्तराल अवस्था में वही निर्विकल्प रूप से स्फुरित होता है ॥ ११३–११४ ॥

परशुराम ! किन्तु इतने से ही सबको समाधि की प्राप्ति नहीं हो जाती; जो आत्मानुसंधानपूर्वक अभ्यास करते हैं, उन्हें ही समाधि की प्राप्ति मानी गयी है ॥ ११५ ॥

व्यवहारपरा वित्तिरपि वेद्यविवर्जिता ।
विदितं नाभसं नैल्यं यथा भूयोऽवलोकने ॥ ११६ ॥
असत्यत्वेन विज्ञातं न वित्तिस्तेन संयुता ।
अन्यथा नैव भेदः स्यात् तत्त्वातत्त्वविभासयोः ॥ ११७ ॥
तथाऽसत्यगृहीतस्य वेद्यस्य न हि वेदने ।
सम्बन्धः कुत्र चिद्वा स्याज्ज्ञानिनामत एव हि ॥ ११८ ॥
वेद्यहीना भवेद्वित्तिर्बाधितस्य विभासनात् ।
अमनस्कस्य सुतरां यतः सा चोन्मनी दशा ॥ ११९ ॥
मनो वै निश्चलं यत्र तदुक्तं चोन्मनी दशा ।
मनसश्चलनं तत् स्यात् सत्यवेद्यस्य सङ्गतिः ॥ १२० ॥
उत्तमज्ञानिनश्चैते दशे युगपदास्थिते ।
स सर्वदा व्युत्थितश्च समाधिस्थश्च भार्गव ॥ १२१ ॥
तस्मात्तस्यापि वेद्येन रहिता वित्तिरास्थिता ।
एवमेतद्धि सम्प्रोक्तं पृष्टं यद्यत् पुरा त्वया ॥ १२२ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे ज्ञानिस्थितिविभेदकथनमेकोनविंशोऽध्यायः ।

तत्त्वज्ञ महापुरुषों की दृष्टि में तो व्यवहार के समय भी चेतन चैत्यवर्ग से रहित ही है। जिसे आकाश के नीलेपन की असत्यता का ज्ञान हो गया है, उसे दिखाई देने पर भी वह झूठ ही जान पड़ती है। उसी प्रकार ज्ञानियों की दृष्टि में चेतन दृश्यशून्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानी और अज्ञानी के दृश्यदर्शन में कोई भेद नहीं रहे ॥ ११६–११७ ॥

दृश्य पदार्थ को असत्य मान लेने पर उसका अनुबोध होने पर भी ज्ञानियों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी से बाधित दृश्य का बोध होने पर भी उत्तम ज्ञानियों की दृष्टि में चित् शक्ति हमेशा दृश्यहीन ही है तथा जो अन्यमनस्क ज्ञानी हैं उन्हें तो दृश्य का बोध ही नहीं होगा, क्योंकि उनकी अवस्था ही उन्मनी रहती है ॥ ११८–११९ ॥

उन्मनी दशा में मन का निश्चितीकरण हो जाता है। सत्यरूप से गृहीत दृश्य के साथ जब उसका सम्बन्ध होता है तो वही उसका चलन कहलाता है ॥ १२० ॥

उत्तम ज्ञानी में दोनों अवस्थाएँ एक साथ होती हैं। परशुराम ! यह हमेशा जगी रहती हैं या हमेशा समाधि में लीन रहती हैं ॥ १२१ ॥

अतः उनकी आँखों में चेतन हमेशा चेतनशून्य ही है। इस तरह तुमने पहले जो सवाल उठाया था उसका जवाब तुम्हें मिल गया ॥ १२२ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ।

विंशोऽध्यायः

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरा वृत्तं शृणुष्व तत् ।
पुरा ब्रह्मसभामध्ये सत्यलोकेऽतिपावने ॥ १ ॥
ज्ञानप्रसङ्गः समभूत् सूक्ष्मात् सूक्ष्मविमर्शनम् ।
सनकाद्या वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ २ ॥
भृगुरत्रिरङ्गिराश्च प्रचेता नारदस्तथा ।
च्यवनो वामदेवश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥
शुक्रः पराशरो व्यासः कण्वः काश्यप एव च ।
दक्षः सुमन्तुः शङ्खश्च लिखितो देवलोऽपि च ॥ ४ ॥
एवमन्ये ऋषिगणा राजर्षिप्रवरा अपि ।
सर्वे समुदितास्तत्र ब्रह्मसत्रे महत्तरे ॥ ५ ॥
मीमांसां चक्रुरत्युच्चैः सूक्ष्मात् सूक्ष्मनिरूपणैः ।
ब्रह्माणं तत्र पप्रच्छुर्ऋषयः सर्व एव ते ॥ ६ ॥
भगवन् ज्ञानिनो लोके वयं ज्ञातपरावराः ।
तेषां नो विविधा भाति स्थितिः प्रकृतिभेदतः ॥ ७ ॥
केचित् सदा समाधिस्थाः केचिन्मीमांसने रताः ।
अपरे भक्तिनिर्मग्नाश्चान्ये कर्मसमाश्रयाः ॥ ८ ॥

(श्रीत्रिपुरादेवी का प्रकट होकर उपदेश देना)

श्रीदत्तात्रेय ने कहा—अब मैं तुम्हें एक पुरानी कहानी सुनाता हूँ, सुनो। पहले की बात है—एक बार परमपवित्र ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सभा में ज्ञान की चर्चा चली। उसमें बारीक-से-बारीक विचार किया गया ॥ १½ ॥

उस महती ज्ञानगोष्ठी में सनकादि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अत्रि, अंगिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास, कण्व, कश्यप, दक्ष, सुमन्तु, शंख, लिखित, देवल और अनेक महर्षि तथा राजर्षि-गण सम्मिलित हुए। ज्ञान का गहन प्रतिपादन करते हुए गम्भीर मीमांसा करने लगे। इसके बाद उन्होंने ब्रह्मा से पूछा—॥ २—६ ॥

भगवन्! संसार में हम लोग ज्ञानी माने जाते हैं। कार्य और कारण सब तत्त्वों को हम जाननेवाले हैं, किन्तु अलग-अलग स्वभाव के कारण हमारी स्थितियाँ भिन्न हैं ॥ ७ ॥

हममें से कुछ तो समाधि में लीन रहते हैं, कुछ विचार में लगे रहते हैं, कुछ भक्तिभाव में लगे रहते हैं और कुछ कर्म में निष्ठा रखनेवाले हैं ॥ ८ ॥

व्यवहारपरास्त्वेके बहिर्मुखनरा इव ।
तेषु श्रेयान् हि कतम एतन्नो वक्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
स्वस्वपक्षं वयं विद्मः श्रेयांसमिति वै विधे ।
इति पृष्टोऽवदद् ब्रह्मा मत्वाऽनाश्वस्तमानसान् ॥ १० ॥
मुनीन्द्रा नाहमप्येतद्वेद्मि सर्वात्मना ततः ।
जानीयादिममर्थन्तु सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ ११ ॥
तत्र यामोऽर्थं सम्प्रष्टुमित्युक्त्वा तत्र तैर्ययौ ।
सङ्गम्य देवदेवेशं विष्णुनाभिसमागतः ॥ १२ ॥
पप्रच्छ ऋषिमुख्यानां प्रश्नं तं लोकसृड् विधिः ।
प्रश्नं निशम्य च ज्ञात्वा विष्णुविधिः मनोगतम् ॥ १३ ॥
मत्वाऽनाश्वस्तमनसा ऋषीन् देवो व्यचिन्तयत् ।
किञ्चिदुक्तं मयाऽत्रापि व्यर्थमेव भवेन्न तु ॥ १४ ॥
स्वपक्षत्वेन जानीयुर्ऋषयः श्रद्धया युताः ।
इति मत्वा प्रत्युवाच देवदेवो महेश्वरः ॥ १५ ॥
शृणुध्वं मुनयो नाऽहमप्येतद्वेद्मि सुस्फुटम् ।
अतो विद्यां भगवतीं ध्यायामः परमेश्वरीम् ॥ १६ ॥
तत्प्रसादान्निगूढार्थमपि विद्मस्ततः परम् ।
इत्युक्त्वा मुनयः सर्वे विधिविष्णुशिवैः सह ॥ १७ ॥

कोई बहिर्मुख पुरुषों की तरह व्यवहार में लगे रहते हैं—इनमें श्रेष्ठ कौन हैं ? यह हमें बतलाने की कृपा करें। ब्रह्मन् ! हम लोग तो अपने पक्ष को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९½ ॥

ऋषियों के प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने समझा कि इन्हें मेरे प्रति सही श्रद्धा नहीं है। उन्होंने कहा—मुनियो ! यह बात तो पूरी तरह मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो आप लोग भगवान् महेश्वर से ही पूछें। वहीं जाइये, वे सर्वज्ञ हैं; इसके बारे में वे जानते होंगे ॥ १०–११ ॥

चलें, हम लोग वहीं चलें। ऐसा कहकर ब्रह्माजी सबके साथ शिवलोक पहुँचें। भगवान् विष्णु भी वहाँ मौजूद थे। सबके साथ महादेव से मिलकर ब्रह्माजी ने यही प्रश्न पूछा ॥ १२½ ॥

प्रश्न सुनकर महादेवजी ने ब्रह्मा और विष्णु के मन का भाव ताड़ लिया। उन्होंने सोचा ऋषियों के मन में श्रद्धा तो है ही नहीं, इन्हें कुछ भी समझाना तो बेकार ही होगा। इन्हें जो कुछ कहा जायेगा, उसे ये मेरे ही पक्ष की बात मानेंगे ॥ १३–१४½ ॥

ऐसा सोचकर देवाधिदेव महादेव ने कहा—मुनियो ! आपने जो पूछा है, उसे साफ-साफ तो मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो हम सब मिलकर भगवती विद्यादेवी

दध्युर्विद्यां महेशानीं त्रिपुरां चिच्छरीरिणीम् ।
एवं सर्वैरभिध्याता त्रिपुरा चिच्छरीरिणी ॥ १८ ॥
आविरासीच्चिदाकाशमयी शब्दमयी परा ।
अभवन्मेघगम्भीरनिःस्वनो गगनाङ्गणे ॥ १९ ॥
वदन्त्वृषिगणाः किं वो ध्याता तद् द्रुतमीहितम् ।
मत्पराणां हि केषाञ्चिन्न हीयेताऽभिवाञ्छितम् ॥ २० ॥
इति श्रुत्वा परां वाणीं प्रणेमुर्मुनिपुङ्गवाः ।
ब्रह्मादयोऽपि तदनु तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ॥ २१ ॥
अथ प्रोचुर्ऋषिगणा विद्यां तां त्रिपुरेश्वरीम् ।
नमस्तुभ्यं महेशानि श्रीविद्ये त्रिपुरेश्वरि ॥ २२ ॥
अशेषोत्पादयित्री त्वं स्थापयित्री निजात्मनि ।
विलापयित्री सर्वस्य परमेश्वरि ते नमः ॥ २३ ॥
अनूतना सर्वदाऽसि यतो नास्ति जनिस्तव ।
नवात्मिका सदा त्वं वै यतो नास्ति जरा तव ॥ २४ ॥
सर्वासि सर्वसारासि सर्वज्ञा सर्वहर्षिणी ।
असर्वाऽसर्वगाऽसाराऽसर्वज्ञाऽसर्वहर्षिणी ॥ २५ ॥

का ध्यान करें। फिर तो उनकी कृपा से गूढ़-से-गूढ़ रहस्य भी हम आसानी से जान सकते हैं ॥ १५–१६½ ॥

महादेव के ऐसा कहने पर ब्रह्मा, विष्णु सहित मुनियों ने चित्स्वरूपा त्रिपुरा का ध्यान करना शुरू किया। इस तरह सबके मिलकर ध्यान करने पर चिदाकाश-मयी शब्दस्वरूपा विद्यादेवी त्रिपुरा इनके सामने साकार प्रकट हुईं ॥ १७–१८½ ॥

तब आकाश में मेघगर्जन की तरह उनकी आवाज गूँज उठी — ऋषियो ! बतलाओ, तुमने मेरा ध्यान किसलिए किया है ? शीघ्र ही अपनी अभिलाषा बतलाओ। मेरे भक्तों की कोई भी इच्छा कभी विफल नहीं होती ॥ १९–२० ॥

चार प्रकार की वाणियों में सबसे पहली परा वाणी सुनकर ऋषियों ने उन्हें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने भी प्रणाम किया। फिर सभी ने मिलकर उनकी अनेक वन्दनाएँ कीं ॥ २१ ॥

विद्यादेवी उस त्रिपुरेश्वरी को फिर ऋषियों ने कहा — हे महेश्वरि ! श्रीविद्ये ! त्रिपुरेश्वरि ! आपको हमारा अनेक नमस्कार है ॥ २२ ॥

हे परमेश्वरी ! आपने अपने में ही इस सारी दुनिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि को समाहित कर रखा है। आपको हमारा अनेकशः प्रणाम है ॥ २३ ॥

आपका कभी जन्म नहीं होता, इसलिए आप सदा ही पुरानी हैं। आपमें कभी बुढ़ापा आता ही नहीं, अतः आप चिरनवीना हैं ॥ २४ ॥

आप ही सब हैं, आप ही सबकी जड़ हैं, आप सब कुछ जानती हैं तथा आप ही

देवि भूयो नमस्तुभ्यं पुरस्तात् पृष्ठतोऽपि च ।
अधस्तादूर्ध्वतः पार्श्वे सर्वतस्ते नमो नमः ॥ २६ ॥
ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपमैश्वर्यं ज्ञानमेव च ।
फलं तस्माद्धनं मुख्यं साधकं सिद्धमेव च ॥ २७ ॥
सिद्धेस्तु परमां काष्ठां सिद्धेषूत्तममेव च ।
देव्येतत् क्रमतो ब्रूहि भूयस्तुभ्यं नमो नमः ॥ २८ ॥
इत्यापृष्टा महाविद्या प्रवक्तुमुपचक्रमे ।
दयमाना ऋषिगणे स्पष्टार्थं परमं वचः ॥ २९ ॥
शृणुध्वमृषयः सर्वे प्रवक्ष्यामि क्रमेण तत् ।
अमृतं ह्यागमाम्भोधेः समुद्धृत्य ददामि वः ॥ ३० ॥
यत्र सर्वं जगदिदं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
उत्पन्नञ्च स्थितं लीनं सर्वेषां भासते सदा ॥ ३१ ॥
यदेव जगदाकारं भासतेऽविदितात्मनाम् ।
यद्योगिनां निर्विकल्पं विभात्यात्मनि केवलम् ॥ ३२ ॥
गम्भीरस्तिमिताम्भोधिरिव निश्चलभासनम् ।
यत् सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात् ॥ ३३ ॥

सबको खुश करनेवाली हैं । किन्तु आपके स्वरूप में सब तो है ही नहीं, अतः आप सर्वशून्या हैं । आप सबसे अलग हैं, आप कुछ नहीं जानती हैं और न किसी को खुश करनेवाली हैं ॥ २५ ॥

देवि ! आपको हमारा बार-बार प्रणाम है । आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से, चारों ओर से बार-बार प्रणाम है ॥ २६ ॥

आपका जो दूसरा रूप है, जो विभूति है, जो ज्ञान है; उसकी जानकारी का जो फल है, उसे जानने का जो प्रमुख साधन है; इसके जो साधक और सिद्ध हैं, जो सिद्धि की चरमसीमा है और सिद्धों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं— इनके बारे में आप हमें बतलाये । हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं ॥ २७–२८ ॥

इस तरह ऋषियों के पूछने पर देवी त्रिपुरा को दया आ गई । उन्होंने सन्देह रहित बड़ी मीठी आवाज में उन्हें समझाना शुरू किया ॥ २९ ॥

ऋषियों आप सुनें, मैं सिलसिलेवार ढंग से आपको सारी बातें समझा देती हूँ । वेद और तंत्रशास्त्ररूपी समुद्र से अमृत निकालकर आपको देती हूँ ॥ ३० ॥

जहाँ यह सारी दुनिया आईने में परछाई की तरह सबको हमेशा जनमती, टिकती और मिटती दीखती है; नासमझों को यह संसार के रूप में दिखलाई देती है और योगियों को यह बिलकुल स्थिर दीख पड़ती है । अपने स्वरूप में जो गंभीर और शान्त समुद्र की तरह अचल-अडिग स्फुरित हो रहा है, श्रेष्ठ भक्तगण इस आत्मपद को अद्वैत रूप से जानते हैं । फिर भी अपने मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के

स्वभावस्थं स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वोदयं पदम् ।
विभेदभासमारुह्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥ ३४ ॥
अक्षान्तःकरणादीनां प्राणसूत्रं यदान्तरम् ।
यदभानेन किञ्चित् स्याद् यच्छास्त्रैरभिलक्षितम् ॥ ३५ ॥
परा सा प्रतिभा देव्याः परं रूपं मयेरितम् ।
ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूर्द्ध्वे सुधाम्बुधौ ॥ ३६ ॥
मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे ।
पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम् ॥ ३७ ॥
अनादिमिथुनं यत्तदपराख्यम् ऋषीश्वराः ।
तथा सदाशिवेशानौ विधिविष्णुत्रिलोचनाः ॥ ३८ ॥
गणेशस्कन्ददिक्पालाः शक्तयो गणदेवताः ।
यातुधानाः सुरा नागा यक्षकिम्पुरुषादयः ॥ ३९ ॥
पूज्याः सर्वा मम तनूरपराः परिकीर्त्तिताः ।
मम मायाविमूढास्तु मां न जानन्ति सर्वतः ॥ ४० ॥
पूजिता ह्येव सर्वैस्तैर्ददामि फलमीहितम् ।
न मत्तोऽन्या काचिदस्ति पूज्या वा फलदायिनी ॥ ४१ ॥

कारण उपास्य और उपासक के रूप में द्वैतभाव की कल्पना कर अत्यन्त तत्पर हो, निश्चल भाव से उस परम आत्मपद का सेवन करते हैं। इन्द्रिय और अन्तःकरण के बीच वह प्राणरूपी अन्तःसूत्र है। इसके स्फुरित न होने पर कुछ भी नहीं रहता। यह केवल शास्त्रों द्वारा ही लक्षित होता है। यह परमप्रकाश ही मेरा पररूप कहा गया है ॥ ३१–३५ ॥

अनेक ब्रह्माण्डों से बिलकुल अलग-थलग बहुत दूर एक सुधासागर है। उसमें मणियों का एक टापू है। उस टापू पर एक कदम्ब का वन है। उस वन में चिन्तामणियों का एक मन्दिर है। उस मन्दिर में 'पञ्चब्रह्ममय' एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर अनादि मिथुनात्मक त्रिपुरासुन्दरी की भव्य मूर्ति विराजित है। वही मेरा अपर स्वरूप है ॥ ३६–३७½ ॥

इसी तरह सदाशिव, ईशान, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणेश, स्कन्द, इन्द्रादि दिग्पाल, महालक्ष्मी आदि शक्तियाँ, वसु आदि गण, राक्षस, देवता, नाग, यक्ष, किन्नर प्रभृति जो लोक में पूज्य हैं, सब मेरे ही दूसरे रूप हैं ॥ ३८–३९½ ॥

इन सभी रूपों में मैं ही हूँ, किन्तु मेरी ही माया से मोहित पुरुष मुझे ही नहीं पहचानते हैं। ऊपर वर्णित रूपों की उपासना से प्रसन्न होकर उपासक को मैं ही मनवांछित फल देती हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य मूर्ति न पूज्य है और न अभीष्ट फलदायिनी है ॥ ४०–४१ ॥

यथा यो मां भावयति फलं मत् प्राप्नुयात्तथा।
ममैश्वर्यमृषिगणा अपरिच्छिन्नमीरितम् ॥ ४२ ॥
अनपेक्ष्यैव यत् किञ्चिदहमद्वयचिन्मयी।
स्फुराम्यनन्तजगदाकारेण ऋषिपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
तथा स्फुरन्त्यपि सदा नात्येम्यद्वैतचिद्वपुः।
एतन्मे मुख्यमैश्वर्यं दुर्घटार्थविभावनम् ॥ ४४ ॥
ममैश्वर्यन्तु ऋषयः पश्यध्व सूक्ष्मया दृशा।
सर्वाश्रया सर्वगता चाप्यहं केवला चितिः ॥ ४५ ॥
स्वमायया स्वमज्ञात्वा संसरन्ती चिरादहम्।
भूयो विदित्वा स्वात्मानं गुरोः शिष्यपदं गता ॥ ४६ ॥
नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम्।
निरुपादानसम्भारं सृजामि जगदीदृशम् ॥ ४७ ॥
इत्यादि सन्ति बहुधा ममैश्वर्यपरम्पराः।
न तद् गणयितुं शक्यं सहस्रवदनेन वा ॥ ४८ ॥
शृण्वन्तु सङ्ग्रहाद्वक्ष्ये मदैश्वर्यस्य लेशतः।
जगद्यात्रा विचित्रेयं सर्वतः सम्प्रसारिता ॥ ४९ ॥
ममाज्ञानं बहुविधं द्वैताद्वैतादिभेदतः।
परापरविभेदाच्च बहुधा चापि तत् फलम् ॥ ५० ॥

ऋषियो ! मेरी विभूति निःसीम है। मुझमें जिसकी भावना जैसी रहती है, उसे वैसा ही फल मिलता है ॥ ४२ ॥

मुनिवरो ! मैं अकेली हूँ, चिन्मयी हूँ। किसी दूसरी शक्ति की अपेक्षा किये बिना संसार के रूप में दीखती हूँ ॥ ४३ ॥

दुनिया के रूप में दीखने के बावजूद मैं अपने इस बेजोड़ चिन्मय रूप को छोड़ नहीं सकती। असंभव को भी संभव कर देनेवाला मेरा यही ऐश्वर्य है ॥ ४४ ॥

ऋषियो ! आप लोग जरा गहरी निगाह से मेरे प्रभुत्व की ओर देखें। मैं सबका आधार हूँ, सबमें अनुगत हूँ, फिर भी केवल चिन्मात्र हूँ ॥ ४५ ॥

अपनी माया से अपने को ही न जानकर मैं बहुत दिनों से जन्म-मरण रूप संसार-चक्र में पड़ी हुई हूँ। फिर गुरुदेव का शिष्यत्व कबूल करती हूँ। उसके प्रभाव से नित्यमुक्त होकर भी बार-बार मुक्त होती हूँ। फिर किसी साधन-सामग्री के बिना ही ऐसी दुनिया रच डालती हूँ ॥ ४६–४७ ॥

मेरे ऐश्वर्य की ऐसी ही अनन्त परम्पराएँ हैं, जिसे हजारों फनवाले शेषनाग भी नहीं गिन सकते ॥ ४८ ॥

सुनिए ! संक्षेप में बतलाती हूँ, मेरे ऐश्वर्य के एक कण से यह अनोखा लोक-व्यवहार चारों ओर फैला हुआ है ॥ ४९ ॥

द्वैतज्ञानन्तु विविधं द्वितीयालम्बनं यतः।
ध्यानमेव तु तत्प्रोक्तं स्वप्नराज्यादिसम्मितम् ॥ ५१ ॥
तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यतः।
अपरञ्चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि ॥ ५२ ॥
प्रोक्तमुख्यापरमयं ध्यानं मुख्यफलक्रमम्।
अद्वैतविज्ञानमेव परविज्ञानमीरितम् ॥ ५३ ॥
मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम्।
कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम् ॥ ५४ ॥
तदेवाद्वैतविज्ञानं केवला या परा चितिः।
तस्याः शुद्धदशामर्शो द्वैतामर्शाभिभावकः ॥ ५५ ॥
चित्तं यदा स्वमात्मानं केवलं ह्यभिसम्पतेत्।
तदेवानुविभातं स्याद् विज्ञानमृषिसत्तमाः ॥ ५६ ॥
श्रुतितो युक्तितो वापि केवलात्मविभासनम्।
देहाद्यात्मावभासस्य नाशनं ज्ञानमुच्यते ॥ ५७ ॥
तदेव भवति ज्ञानं यज्ज्ञानेन तु किञ्चन।
भासमानमपि क्वापि न विभायात् कथञ्चन ॥ ५८ ॥

द्वैत-अद्वैत के भेद से मेरा ज्ञान भी अनेक तरह का है। उसके फल भी पर और अपर भेद से अनेक तरह के हैं ॥ ५० ॥

द्वैतज्ञान अनेक तरह के हैं। इनका आधार कोई दूसरा होता है। उसे ध्यान भी कहा जाता है। यह सपने और मानसिक बहाव की तरह होते हैं ॥ ५१ ॥

किन्तु मनोराज्य की तरह होने पर भी उसे फलदायक ही समझना चाहिए, क्योंकि नियति का विधान ऐसा ही है। अपर ज्ञान अनेक हैं, परन्तु उनमें प्रमुखता इसी की है ॥ ५२ ॥

ऊपर बतलाया गया ध्यान उत्कृष्ट ब्रह्म का है। इसका प्रमुख फल मुक्ति है। मुक्ति का यह परम्परागत साधन है। पर ज्ञान को तो अद्वैत ज्ञान ही कहा गया है ॥ ५३ ॥

मैं ही तो परम उत्कृष्ट श्रीविद्या हूँ। मेरी लम्बी आराधना किये बिना कोई अद्वैत नाम वाली इस पराविद्या को कैसे पा सकता है ? ॥ ५४ ॥

जो सच्ची चित्शक्ति है, वही विशुद्ध ब्रह्मज्ञान है। इसके सच्चे स्वरूप का विचार ही आत्मा और परमात्मा के भेद को मिटाने वाला है ॥ ५५ ॥

जिस समय आदमी का मन अपनी आत्मा के स्वरूप की ओर लगता है, उसी समय उस विशुद्ध विज्ञान का साक्षात्कार होता है ॥ ५६ ॥

वेद से, उचित विचार से आत्मा की अनुभूति होना और देह आदि में आत्म-भाव की कमी हो जाना भी तो ज्ञान ही कहलाता है ॥ ५७ ॥

तदेवाद्वैतविज्ञानं यद्विज्ञानेन किञ्चन ।
अविज्ञातं नैव भवेत् कदाचिल्लेशतोऽपि च ॥ ५९ ॥
सर्वविज्ञानात्मरूपं यद्विज्ञानं भवेत् खलु ।
तदेवाद्वैतविज्ञानं परमं तापसोत्तमाः ॥ ६० ॥
जाते यादृशविज्ञाने संशयाश्चिरसम्भृताः ।
वायुनेवाभ्रजालानि विलीयन्ते परं हि तत् ॥ ६१ ॥
कामादिवासनाः सर्वा यस्मिन् सन्ति न किञ्चन ।
स्युर्भग्नदंष्ट्राहिरिव तद्विज्ञानं परं स्मृतम् ॥ ६२ ॥
विज्ञानस्य फलं सर्वदुःखानां विलयो भवेत् ।
अत्यन्ताभयसम्प्राप्तिर्मोक्ष इत्युच्यते फलम् ॥ ६३ ॥
भयं द्वितीयसङ्कल्पादद्वैते विदिते दृढम् ।
कुतः स्याद् द्वैतसङ्कल्पस्तमः सूर्योदये यथा ॥ ६४ ॥
ऋषयो न भयं क्वापि द्वैतसङ्कल्पवर्जने ।
अतो यत् फलमन्यत् स्यात् तद्भयं सर्वथा भवेत् ॥ ६५ ॥

असली ज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर दिखलायी देने वाली वस्तु भी कहीं नहीं दीखती ॥ ५८ ॥

सच्चा ब्रह्मज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर फिर कभी कुछ भी अनजान नहीं रह जाता है ॥ ५९ ॥

हे तापसो ! जिस ज्ञान से सभी ज्ञान आत्मरूप हो जाते हैं, वास्तव में वही ज्ञान अद्वैत विज्ञान है ॥ ६० ॥

ऐसा विशिष्ट ज्ञान मिल जाने पर चिरपोषित सभी संशय उसी तरह खत्म हो जाते हैं जैसे हवा के झोंके से आकाश में मेघजाल विनष्ट हो जाते हैं । इसी ज्ञान को पराविज्ञान कहा गया है ॥ ६१ ॥

जिस ज्ञान के मिल जाने पर काम प्रभृति समस्त वासनाएँ स्वतः मिट जाती हैं, अगर कुछ बची-खुची रह भी जाती हैं तो वह दाँत तोड़े साँप की तरह बेकार ही होती है । यही पर-विज्ञान है ॥ ६२ ॥

इस विज्ञान की उपलब्धि समस्त दुःखों से छुटकारा और पूरी निर्भयता है । इसे ही पर-विज्ञान माना गया है ॥ ६३ ॥

डर तो किसी दूसरे को पाने का पक्का इरादा करने पर ही होता है या फिर किसी दूसरे के अस्तित्व से होता है । जहाँ अद्वैत ज्ञान मजबूत है वहाँ फिर द्वैत का संकल्प ही नहीं हो सकता है; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं होता ॥ ६४ ॥

ऋषियो ! आत्मा और परमात्मा का भेद छूट जाने पर डर तो रहता ही नहीं है। इसलिए जो फल आत्मा के रूप से अलग होगा वह सब तरह से भय रूप ही होगा ॥६५॥